ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

(द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च)

(An English-Hindi Bilingual Peer Reviewed/Refereed Research Journal)

Year 7 | Issue : 1 | March-September 2017

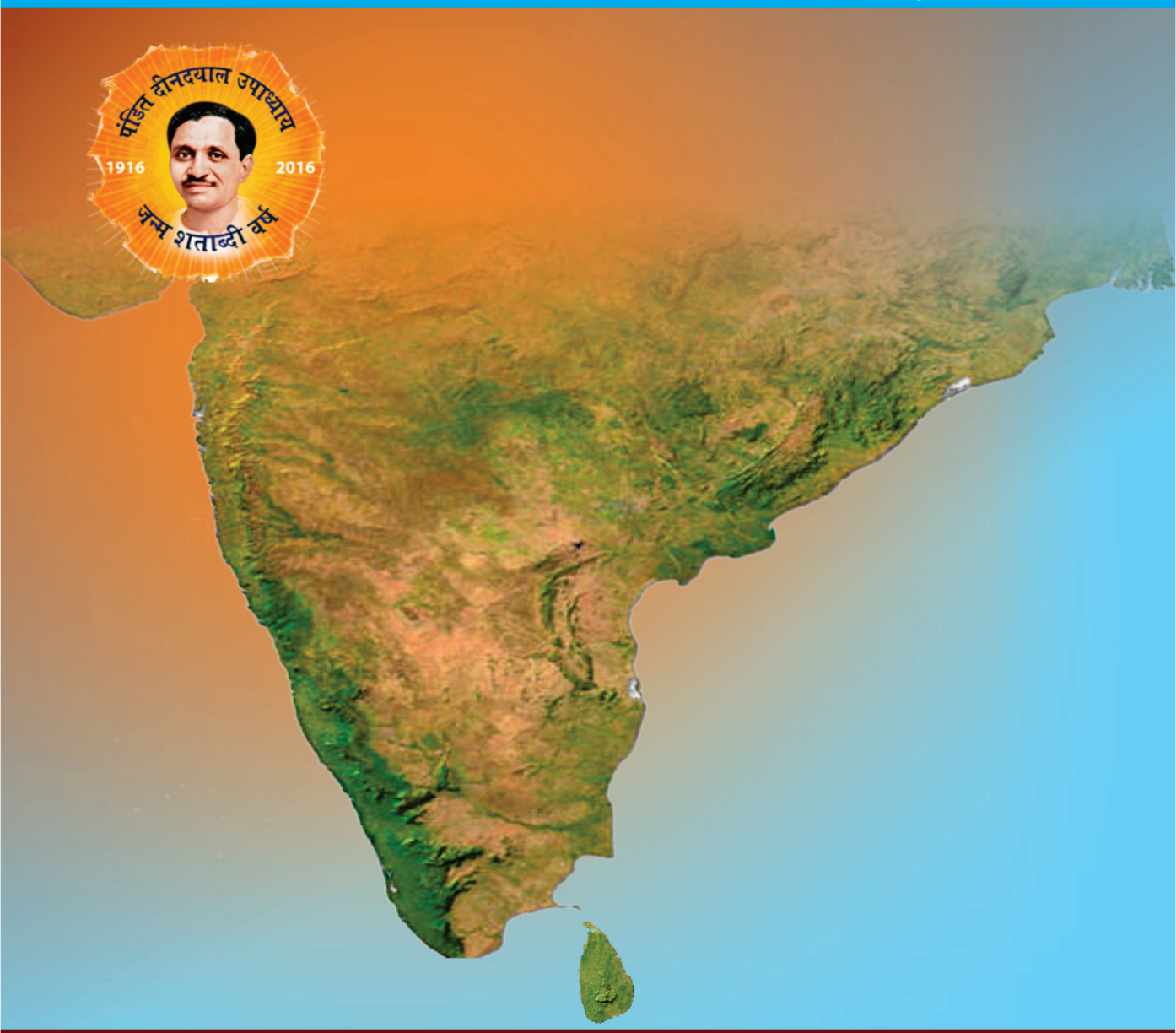

Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth

ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च

(An English-Hindi Bilingual Peer Reviewed/Refereed Research Journal)

Year 7 **Issue : 1** **March-September 2017**

Founder Patron
Shri Ashok Singhal
Patron
Dr. Mahesh Mehta

Advisory Board
Dr. Murli Manohar Joshi
Dr. subramanian Swamy
Justice Dr. Rama Jois
Dr. Mahesh Sharma

Editorial Board
Prof. Girish Chandra Tripathi
Prof. Susheel Kumar Sharma
Dr. J.P. Mishra
Shri Rajeev Mishra

Editor
Dr. Chandra Prakash Singh

Editorial Address : Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth
21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Allahabad-211002 (U.P.)
E-mail : nationalthought@gmail.com Tel. & Fax : 0532-2466786

Cite this issue as : 7 JITPR (I) 2017

Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth 2017

No part of this journal can be printed, published, photo copied, reproduced or stored in any retrievable system except with prior written permission of the proprietors of this publication.

It is clarified that the views expressed by the author of the articles published in the journal are their own and may not reflect the views of the Members of the Editorial Board.

Printed and Published by Dr. Chandra Prakash Singh at Allahabad for the proprietors, Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, 21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Allahabad-211002 (U.P.)

CONTENTS

1.	संपादकीय	1-4
2.	Prof. Arvind Kumar Agrawal **Why Should The Concept of 'Dharma' Replace Secularism in Indian Constitution?**	5-12
3.	Susheel Kumar Sharma **Revisiting Portuguese Colonization in India**	13-36
4.	Dr. J.P. Mishra **My Language, My Lord!**	37-49
5.	इन्दुशेखर तत्पुरुष **प्रजातंत्र का आधार : आर्थिक विकेन्द्रीकरण**	50-55
6.	आद्या प्रसाद पाण्डेय एवं अनिल कुमार **एकात्म मानववाद और भारतीय कृषि**	56-59
7.	अजीत प्रताप सिंह **हरित क्रान्ति, जी.एम. बीज और सुमंगलम**	60-71
8.	रजनी चौबे **सम्पूर्ण विकास के मानक के रूप में एकात्म मानव दर्शन**	72-78
9.	ओम प्रकाश दुबे **दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद भारतीय सनातन संस्कृति का प्रतिबिम्ब**	79-86
10.	नीरेन कुमार उपाध्याय **राष्ट्रीय सुरक्षा और मीडिया : जम्मू-कश्मीर समस्या व धारा 370 के संदर्भ में**	87-100
11.	ओम प्रकाश मिश्र **गंगा : ऐतिहासिक संदर्भ और वर्तमान दशा**	101-106
12.	आलोक कुमार त्रिपाठी **राजनीति में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता**	107-110
13.	रेखा रानी कपूर **शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में एकात्म मानववाद की उपादेयता का विश्लेषण**	111-114
14.	गंगा देवी लवानियाँ **एकात्म मानववाद का तात्विक विश्लेषण**	115-121

संपादकीय

15 अगस्त 1947 को भारत औपनिवेशिक दासता से मुक्त होकर तथा 26 जनवरी 1950 को संविधान अंगीकृत कर संप्रभु राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। भारत की राज्य व्यवस्था यहीं के लोगों के द्वारा संचालित होने के कारण राज्य की दृष्टि से तो राष्ट्र ब्रिटिश उपनिवेश से मुक्त हो गया, परन्तु क्या भारतीय मानस औपनिवेशिक दासता से मुक्त हो सका? यदि इन सत्तर वर्षों का विश्लेषण किया जाए तो देखने में यह आता है कि शिक्षा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, रहन-सहन सभी दृष्टियों से स्वतंत्रता के पूर्व की अपेक्षा उसके पश्चात हम औपनिवेशिक मानसिकता के अधिक शिकार हुए। स्वतंत्रता के पूर्व हम अपनी पहचान और अपनी व्यवस्थाओं के प्रति अधिक सचेत थे, लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात राज्य कर्ता यह विचार किये बिना कि हजारों वर्ष की विरासत को संभाले हुए इस राष्ट्र के पास भी नव निर्माण के अपने कुछ उपादान हैं, विदेशी प्रतिरूप को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर देश को उसी दिशा में लेकर आगे बढ़े। यहाँ तक कि विकास के वर्तमान मॉडल में इस देश की परम्परा और संस्कृति की बात तो दूर प्रकृति एवं पर्यावरण तक की चिंता नहीं की गयी। अंग्रेजों के द्वारा स्थापित भारत की शिक्षा व्यवस्था ने स्वतंत्रता के पश्चात वैदेशिक वामपंथी विचारधारा से प्रभावित होकर राष्ट्र के प्रति आस्थाविहीन ऐसे चिंतन को जन्म दिया जिसे भारत में कोई भी श्रेष्ठता नहीं दिखाई पड़ती। आज यह हमारे औपनिवेशिक मानसिक दासता का ही प्रतिफल है कि औपनिवेशिक काल-खण्ड में ब्रिटिश हितों के लिए किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप उत्पन्न राष्ट्र की दुर्दशा के लिए भी भारत को ही दोषी ठहराया जाता है।

शैक्षणिक जगत में उन पुस्तकों, प्रमाणों एवं तथ्यों के अध्ययन व विश्लेषण की कभी आवश्यकता नहीं अनुभव की गयी जो सत्य को उजागर कर सकें, जबकि स्वतंत्रता के पूर्व ही हमारे विद्वान नेतृत्वकर्ताओं ने अनेक बार इस सत्यको सप्रमाण उजागर किया था। सबसे पहले दादाभाई नौरोजी ने 2 मई, 1867 को ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की बैठक में England Debute to India शीर्षक अपने लेख में भारतीय धन के बहिर्गमन के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। उन्होंने बताया कि भारत का धन भारत से बाहर जाता है, और फिर वही धन भारत को ऋण के रूप में दिया जाता है और फिर भारत को उसी धन को ब्याज के साथ चुकाना पड़ता है।[1] यही भारत की दुर्दशा और गरीबी का कारण बना। महामना मदनमोहन मालवीय ने सन् 1916 में ब्रिटिश भारत की सरकार द्वारा गठित इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन के सदस्य के रूप में वायसरॉय की कौंसिल में दिए गए अपने भाषण में ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय उद्योगों को समाप्त करने के दुश्चक्र पर व्यापक प्रकाश डाला।[2] उन्होंने ब्रुक्स एडम द्वारा लिखित ''दि लॉ ऑफ सिविलाइजेशन एण्ड डिके'' पुस्तक का उद्धरण देते

1. bharatdiscovery.org
2. भारतीय औद्योगिक कमीशन कि रिपोर्ट पर असहमति लेख : महामना के विचार - का. हि. वि.

हुये बताया कि सन 1756 में क्लाइव भारत आया तो इंग्लैंड पर सात करोड़ पैंतालीस लाख पचहत्तर हजार पौंड का ऋण था, और उसका सूद सत्ताईस लाख तिरपन हजार वार्षिक देना पड़ता था।''[1] डिग्बी ने अपनी ''प्रॉस्पोरस ब्रिटिश इंडिया'' पुस्तक में लिखा है, 'इंग्लैंड की व्यावसायिक उत्कृष्टता के प्रारंभ का सम्पूर्ण श्रेय बंगाल तथा कर्णाटक के संचित धन को है, जिसका इंग्लैंड के लिए प्रयोग किया गया।[2] धर्मपाल जी ने अंग्रेजों के आपसी पत्राचार, शासनादेशों एवं अन्य मूल पत्रावलियों का अध्ययन करके जिस सत्य का उद्घाटन किया, वह और भी आश्चर्यजनक है। अंग्रेजों ने भारत में पैर जमाने के पश्चात अपने लाभ एवं व्यवसायिक हितों के लिए सबसे पहले स्थानीय उद्योगों को नष्ट करने का उपक्रम प्रारंभ किया। इसके लिए भारत में निर्मित वस्तुओं के उत्पाद एवं निर्यात शुल्क में भारी वृद्धि कर दी गयी तथा आयात शुल्क घटा दिया गया परिणामस्वरूप भारत के वस्त्र उद्योग, लौह उद्योग, जहाजरानी एवं लघु व कुटीर उद्योग धीमे-धीमे समाप्त हो गए और भारत कृषि प्रधान देश के रूप में इंग्लैंड के कारखानों के लिए मात्र कच्चे माल का उत्पादक बन गया।[3] सन 1804 में मद्रास प्रेसिडेंसी के गवर्नर लार्ड बेंटिक ने कहा था, ''मेरी राय सामान्यतः यह है कि हमने इस देश के साथ बहुत कठोरता पूर्ण व्यवहार किया है। परिणामस्वरूप यह देश भीषण दयनीय दारिद्य की स्थिति में पहुँच गया है। मुझे आशंका है कि राजस्व इकट्ठा करने में सामान्यतः अधिक दमन किया गया है।'[4]

भारत के आर्थिक तंत्र को नष्ट कर प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे एवं भारत को ब्रिटिश माल के एक बड़े बाजार के रूप में विकसित करने के पश्चात अंग्रेजों की सबसे बड़ी चिंता इस देश में अपने शासन के स्थायित्व की थी। शासन का स्थायित्व तभी संभव था जब भारत के मानस को ही गुलाम बना लिया जाए। इसके लिए आवश्यक था भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा एवं ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करना। उन्हें पता था कि जब तक भारतीय समाज में अपनी संस्कृति, परंपरा, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान व अपने पुरखों के प्रति हीन भावना नहीं उत्पन्न होगी तब तक उन्हें मानसिक रूप से गुलाम नहीं बनाया जा सकता और यह कार्य शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन के बिना संभव नहीं था।

भारत की शिक्षा को लेकर ब्रिटिश संसद हाउस ऑफ कामर्स में सन् 1813 से 1835 तक एक लम्बी बहस की प्रक्रिया चली। इस बीच अलग-अलग राज्यों में शिक्षा की स्थिति पर सर्वेक्षण भी हुये। बंगाल एवं बिहार में विलियम एडम द्वारा कराये गए सर्वेक्षण के परिणाम अत्यंत आश्चर्यजनक हैं। विलियम एडम के अनुसार प्रवर्तमान परिस्थिति में इस प्रान्त में 1,50,748 गाँव हैं और कम से कम एक लाख गाँवों में विद्यालय हैं। बंगाल के प्रत्येक जिले में 100 उच्च शिक्षा की संस्थाएँ थीं।[5] चेन्नई प्रेसीडेंसी के सर्वेक्षण के आधार पर

1. भारतीय औद्योगिक कमीशन कि रिपोर्ट पर असहमति लेख : महामना के विचार - का.हि.वि., पृ. 194
2. भारतीय औद्योगिक कमीशन कि रिपोर्ट पर असहमति लेख : महामना के विचार - का.हि.वि., पृ. 195
3. धर्मपाल समग्र : भारत की लूट एवं बदनामी - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद
4. धर्मपाल समग्र : भारत की लूट एवं बदनामी - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद, पृ. 12
5. धर्मपाल समग्र : रमणीय वृक्ष - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद, पृष्ठ 44

सर टॉमस मुनरो ने हाउस ऑफ कॉमन्स के समक्ष सप्रमाण बताया कि 'अगर सांस्कृतिक आधार पर इंग्लैंड और भारत के बीच आदान-प्रदान किया जाये तो इंग्लैंड के हिस्से में आयात करना ही होगा'। मुनरो आगे कहते हैं 'अक्षरज्ञान और अंक गणित की शिक्षा के लिए यहां के प्रत्येक गाँव में शालाएँ थीं।'[1] ब्रिटिश सरकार ने इन सभी रिपोर्टों को दबाकर भारत को असंस्कृत, जंगली और असभ्य घोषित कर भारतीय शिक्षा पद्धति को समूल नष्ट कर दिया, क्योंकि जेम्स मिल के मतानुसार भारतीयता त्यागने से, विल्बर्फोर्स के मतानुसार इसाई मत अपनाने से, मैकाले के अनुसार अंग्रेजियत अपनाने से तथा मार्क्स के अनुसार पाश्चात्यीकरण का स्वागत करने से ही भारत एक सभ्य, सुसंस्कृत देश बन सकता था।[2] 1835 में मैकाले ने जो शिक्षा का प्रारूप प्रस्तुत किया उसमें ये सभी उद्देश्य एक साथ समाहित थे। 1854 में ब्रिटिश संसद ने कानून पास कर सम्पूर्ण भारतीय शिक्षा को अंग्रेज सरकार के अधीन कर दिया और तब से आज तक सरकार की अधीनस्थता में भारतीय शिक्षा उन्हीं उद्देश्यों को पूरा कर रही है जो मैकाले, मिल और मार्क्स ने निर्धारित किया था।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के लागू होने कुछ समय पश्चात ही इसके दुष्परिणाम लोगों को समझ में आने लगे। गाँधी जी ने कहा कि 'ब्रिटिश शासक जब भारत आये तब उन्होंने यहाँ की स्थिति को यथावत स्वीकार करने के स्थान पर उसका उन्मूलन करना शुरू किया। उन्होंने मिट्टी कुरेदी, जड़ों को कुरेद कर बाहर निकाला, और फिर उन्हें खुला ही छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि शिक्षा का वह रमणीय वृक्ष नष्ट हो गया।[3] इस शिक्षा पद्धति के विषय में स्वामी विवेकानंद का मानना था कि पिछले पचास वर्षों से दी जाने वाली इस शिक्षा ने तीनों प्रान्तों (बंगाल, मुंबई और मद्रास) में मौलिक विचारों का एक भी व्यक्ति पैदा नहीं किया, और जो मौलिक विचार के लोग हैं, उन्होंने यहाँ शिक्षा नहीं पायी है, विदेशों में पायी है, अथवा अपने भ्रममूलक कुसंस्कारों को दूर करने के लिए पुनः अपने पुराने शिक्षालयों में जाकर अध्ययन किया है।[4] स्पष्ट है कि भारतीय मानस के इस औपनिवेशीकरण को स्वामी जी ने उसी समय समझ लिया था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि यह शिक्षा केवल और पूर्णतः निषेधात्मक है। .... कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और जो सबसे पहली बात, उसे सिखायी जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी जो वह सिखाता है, वह यह कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे सभी पाखंडी हैं और चौथी बात कि - तुम्हारे जितने पवित्र धर्म ग्रंथ हैं, उनमें झूठी और कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं।[5]

भारतीय मानस में हीनता का बोध कराने वाली इस शिक्षा ने स्वतंत्रता के पश्चात यथावत ही नहीं

1. धर्मपाल समग्र : रमणीय वृक्ष - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद, पृष्ठ-80 (हाउस ऑफ़ कॉमन्स पेपर - 1812-13, भाग-7, पृष्ठ 131)
2. धर्मपाल समग्र : रमणीय वृक्ष - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद, पृष्ठ-76
3. धर्मपाल समग्र : रमणीय वृक्ष - पुनरुत्थान ट्रस्ट अहमदाबाद, पृष्ठ-44
4. शिक्षा के आदर्श : स्वामी विवेकानंद - श्रीरामकृष्ण मठ - पृष्ठ-43
5. शिक्षा का आदर्श : स्वामी विवेकानंद - श्रीरामकृष्ण मठ - पृष्ठ-43

बल्कि और भी अधिक तीव्रता से पाश्चात्य चिंतन की पराधीनता को स्वीकार कर लिया। सभी भारतीय ज्ञान-विज्ञान और तथ्य कपोल-कल्पित मानने तथा भारतीय इतिहास को दूषित करने का कार्य नेहरू के संरक्षण में वामपंथी चिंतकों ने और जोर-शोर से प्रारम्भ कर दिया जो आज तक यथावत चला आ रहा है। स्वतंत्रता के पूर्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शांति निकेतन, स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, महामना मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा महात्मा गांधी ने पुणे, अहमदाबाद, काशी और पटना में चार विद्यापीठों की स्थापना करके राष्ट्रीय शिक्षा को जीवित रखने का जो प्रयास किया था स्वतंत्रता के पश्चात वह भी सरकार के हस्तक्षेप के कारण धीमे-धीमे सुप्त पड़ता चला गया।

भारत की वास्तविक स्वतंत्रता तभी साकार होगी जब राष्ट्र मानसिक पराधीनता से मुक्त हो सकेगा। भारत को भारत के सन्दर्भ, परिस्थिति एवं परिवेश के आधार पर समझने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक काल-खण्ड में जिस राष्ट्र के निर्माण की कोशिश की गयी वह इंग्लैंड के लिए और वहीं के मानकों के आधार पर सोचता था, लेकिन आज का भारत सम्पूर्ण विश्व के साथ कदम-ताल मिलाते हुए अपने सन्दर्भों व मानकों के आधार पर सोचने और करने वाला होना चाहिए तभी वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र कहा जा सकेगा।

इसके लिए भारतीय तत्व चिंतन, दिक्, काल और मानस का बोध आवश्यक है और इस बोध के लिए शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जो हमें हमारे तात्विक अधिष्ठान का बोध तथा वास्तविक इतिहास व ज्ञान-विज्ञान से परिचय करा सके। हमारी कमजोरियों के वास्तविक कारणों को न केवल इंगित करे अपितु उसका समाधान भी कर सके।

द जर्नल ऑफ इंडियन थॉट एंड पॉलिसी रिसर्च के इस अंक में औपनिवेशिक मानसिकता से उत्पन्न सेकुलरिज्म की भ्रांत अवधारण, भारत में पुर्तगाली उपनिवेश की बर्बर सत्यता तथा भारतीय समाज रचना के तात्विक अधिष्ठान एकात्म मानववाद के विविध पहलुओं को उजागर करने वाले आलेख समाहित हैं। आगे के अंकों में भी औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त कर सकने वाले तथ्यों तथा एकात्म, समग्र एवं देशज चिंतन के आधार पर विविध क्षेत्रों में राष्ट्र को दिशा देने वाले शोधपरक आलेख आमंत्रित हैं। आशा है यह अंक सुधीजनों को कुछ लाभान्वित कर सकेगा।

चन्द्र प्रकाश सिंह

(डॉ0 चन्द्र प्रकाश सिंह)

WHY SHOULD THE CONCEPT OF 'DHARMA' REPLACE SECULARISM IN INDIAN CONSTITUTION?

Prof. Arvind Kumar Agrawal[1]

Ironically, India has adopted *Dharmachakra* to adorn the national flag as its central symbol but has refused to accept *Dharma* as the pillar stone of its socio-political world view.

Dharma is an endogenous concept which serves the society in *panth nirpeksh* manner. Seeking *dharma nirpekshta* in the name of Western secularism is a folly as there is nothing *dharma nirpeksh*. Either it is *dharma* or *adharma*, one cannot run away from or disown *dharma*. Western secularism is an alien cultural ideology. This ideology is rooted in Western paradigm of history and philosophy. Its roots can be traced in the Protestant reformation led by Martin Luther in Europe. Writings of Max Weber and Ernst Troelsch point out the relationship between Protestantism, individualism and secularization. Western oriented intellectuals with colonized mindset thought it appropriate to impose in Indian conditions. Unfortunately secularism was taken as an imperative constituent of modernization and modern science. Secularism was imposed on Indian political system by agnostic; Western oriented Nehru who presumed religion to be an antonym to rational scientific temper and modernization and promoted secularism. Nehru was of clear view that religion is an impediment to modernization of Indian society as he saw religion as superstitious and ignorant. Thus, Jawaharlal Nehru wrote: "We have to get rid of that narrowing religious outlook, that obsession with the supernatural and metaphysical speculations, that loosening of the mind's discipline in ceremonial and mystical emotionalism, which come in the way of our understanding ourselves and the world"[1]. Here what Nehru is referring to understanding is Western rational thought. He wrote that "the belief in a supernatural

[1]Vice-Chancellor Mahatma Gandhi Central University, Motihari, Bihar
[2] Nehru, Jawaharlal (1961). Op.cit. pp.552-553.

agency which ordains everything has led to a certain irresponsibility on the social plane, and emotion and sentimentality have taken the place of reasoned thought and inquiry"[1]. For him, religion was contrary to science "behind it lay a method of approach to life's problems which was certainly not that of science"[2]

Strange uncertainties and contradictions bespeak of the 1949 Indian Constitution, which sought to establish a secular state (article 15) in a society which it allowed and even encouraged to be communally divided (articles 25-30). In the name of 'freedom of religion', it allowed citizens not only the profession and practice of their respective religions but also their propagation. Besides, it allowed the establishment of educational institutions along communal lines. Secularism was finally inserted in the Preamble of Indian Constitution by Indira Gandhi's Government in 1976 through 44th Constitutional amendment. This article puts forth a logic justifying why Western secularism ought to be discarded and be suitably replaced by the term '*Dharma*'. This shall be discussed in the following logical order:

(i) Why Western secularism is not suitable for Indian social reality?

(ii) Why '*Dharma*' is the most appropriate concept to replace secularism in the Preamble of Indian Constitution and also how it would meet the need of peaceful co-existence of multi-religious society of India?

Why secularism is not suitable for Indian social reality?

Secularism is purely a negative strategy which is based on denial of ancient cultural heritage of Indian society based on its spiritual, transcendental world view. It is a denial of essence of Indian social reality. '*Sarva Dharma Samabhava*', a doctrine of equidistance from all religions to ensure religious neutrality has been the goal of this secularism, where it has terribly failed and in the process it has robbed the society and culture of their moral and religion basis vibrant moral, religious basis. Eminent social anthropologist, Madan writes:

> "Now, I submit that in the prevailing circumstances secularism in South Asia as a generally shared credo of life is impossible, as a basis for state action

[1] Nehru, Jawaharlal (1961) *The discovery of India. Bombay;* Asia Publishing House. p. 543.
[2] Ibid. p. 26.

> impracticable, and as a blueprint for the foreseeable future impotent. It is impossible as a credo of life because the great majority of the people of South Asia are in their own eyes active adherents of some religious faith. It is impracticable as a basis for state action either because Buddhism and Islam have been declared state or state-protected religions or because the stance of religious neutrality or equidistance is difficult to maintain since religious minorities do not share the majority's view of what this entails for the state. And it is impotent as a blueprint for the future because, by its very nature, it is incapable of countering religious fundamentalism and fanaticism.
>
> Secularism is the dream of a minority which wants to shape the majority in its own image, which wants to impose its will upon history but lacks the power to do so under a democratically organized polity. In an open society the state will reflect the character of the society. Secularism therefore is a social myth which draws a cover over the failure of this minority to separate politics from religion in the society in which its members live. From the point of view of the majority, 'secularism' is a vacuous word, a phantom concept, for such people do not know whether it is desirable to privatize religion, and if it is, how this may be done, unless they be Protestant Christians, but not if they are Buddhists, Hindus, Muslims, or Sikhs. For the secularist minority to stigmatize the majority as primordially oriented and to preach secularism to the latter as the law of human existence is moral arrogance and worse—I say 'worse' since in our times politics takes precedence over ethics—political folly. It is both these—moral arrogance and political folly—because it fails to recognize the immense importance of religion in the lives of the peoples of South Asia. I will not raise here the issue of the definition of religion: suffice it to say that for these peoples their religion establishes their place in society and bestows meaning on their life, more than any other social or cultural factor."[1]

Whether we have the Indic faiths in mind, or the major religions of non-Indian origin, notably Islam, religion in India is not a discrete element of everyday life that stands wholly apart from the economic or political concerns of the people. To assume that would amount to yielding to the temptation of words. The point is not that the religious domain is not distinguished from the secular, but rather that the secular is

[1] Madan, T.N. (1991) 'Secularism in its Place' in T.N. Madan (ed.) *Religion in India,* New Delhi: Oxford University Press, p. 395.

regarded as being encompassed by the religious, even when the former is apparently inimical to the latter. The relationship is hierarchical.

Muhammad Iqbal, an expert on Islam in South Asia too rejected secularism with reference to as he wrote:

"In Islam the spiritual and the temporal are not two distinct domains, and the nature of an act, however secular in its import, is determined by the attitude of mind with which the agent does it. . . . . In Islam it is the same reality which appears as Church looked at from one point of view and State from another"[1].

Iqbal further explains: "The ultimate Reality, according to the Quran, is spiritual, and its life consists in its temporal activity. The spirit finds its opportunities in the natural, the material, the secular. All that is secular is therefore sacred in the roots of its being. . . . . There is no such thing as a profane world. . . . All is holy ground"[2].

Noted scholar, Fazlur Rahman wrote "Secularism destroys the sanctity and universality (transcendence) of all moral values."[3]

Secularists deeply overburdened by their colonial education based on Western centric world view tend to ignore the socio-cultural historical reality of Indian Society. Yogendra Singh[4] has described four core values constituting traditional Indian society, viz., holism; hierarchy; continuity and transcendence (Other worldliness) in contrast to Western modern society that is based on: individualism; egalitarianism; change and this worldliness. **Holism** can be seen as the essence of a society where collective interests of village, community and family take precedence over individual interests. **Hierarchy** as a core value distinguishes Indian society from the rest of the world. Indian caste system is the institutional manifestation of this core value. This value is so deeply engrossed in the culture that religions like Islam having fundamental tenet of equality got influenced by this value resulting into caste like hierarchical divisions (Ashraf and Ajlaf) among Muslims in India, Pakistan and Bangladesh. So much so Sikhism, an

[1] Iqbal, Muhammad. (1980): The *Reconstruction of Religious Thought in Islam*. Delhi: New Taj Office. Reprint. p. 154.
[2] Ibid. p. 155.
[3] Rahman, Fazlur, (1982) Islam and Modernity. Chicago:University of Chicago Press. p. 15.
[4] Singh, Yogendra (2007) *Modernization of Indian Tradition*, Jaipur: Rawat Publications. p. vii.

endogenous religion got caste like structures despite strict forbiddance by its founder Gurus. Almost all religions that came to India have been influenced by this value culminating into hierarchies alike castes. This has been well chronicled by David Mandelbaum in his famous book, Society in India. **Continuity** as a core value is product of Sanatan Dharma (Eternal religion) and one can notice how primordial traditions and institutional practices continue to dominate Indian social reality even in contemporary Indian social reality. **Transcendence (Other worldliness)** is a core value that incorporates deeply entrenched ethical moral codes in all kinds of religions in India that drive day to day behaviour in social life. Religion in the Indian cultural setting traditionally permeates most aspects of life, not through mechanical diffusion, but in an integrated, holistic, perspective.[1]

To impose Western model of secularism is an attempt to deny this and it is the bane causing moral vacuum in public sphere manifested in corruption, crime and insane indifference to human civility. Madan writes "… South Asia's major religious traditions—Buddhism, Hinduism, Islam, and Sikhism—are totalizing in character, claiming all of a follower's life, so that religion is constitutive of society"[2].

Why '*Dharma*' is the most appropriate concept to replace secularism in the Preamble of Indian Constitution and also how it would meet the need of peaceful co-existence of multi-religious society of India?

Definition of *Dharma*? "Notion and word most incorrectly used in India as a synonym for religion, namely the Sanskrit '*dharma*' (from the root dhri), or its Pali equivalent dhamma, denotes the ideas of maintenance, sustenance, or upholding steadfastness and moral virtue. Religion as a term does not comprehend the true meaning and essence of Indic religions as inherent in *Dharma*. In fact, religion is more suited to Abrahminical religions evolved in Middle-East viz., Judaism, Christianity, and Islam. It is an idea that differs from the dependent bonding of the human being with supernatural powers conveyed by the term religion, which is of Latin derivation (religio, obligation, bond); it also denotes reverence, but in Lucretius it means 'fear of gods'. While the conception of a self-sustaining cosmo-moral order is found in all Indic religions, subtle differences of nuance notwithstanding, Islam literally stands for submission to the Will of God, conveyed through his Word as recorded in the Quran, which is to be read

[1] Radhakrishnan, S (1927): *The Hindu view of life.* London: Allen & Unwin.
[2] Madan, T.N. (1991) op.cit., p. 399.

repeatedly as an essential act of peity."[1] *Dharma* is righteous behavior; though it is rooted in religious ideology but overtly it is as secular as it should be in a so called modern Constitution. Following *dharma* shall impinge upon individuals to pursue morally right conduct that is not only conscientious but also humane in every sense. "At a universal level *dharma* refers to a cosmic, eternal principle, yet it must also relate to the world of human transaction. At a particular level, *dharma* applies to specific laws and the contexts to which they are applied. One of the sources of *dharma* according to Manu, is 'custom'. This means that *dharma* can be adapted to particular situations and particular applications of it were decided by a local assembly of a number of learned men."[2] *Dharma* is 'context driven and context sensitive'. "The *Dharma* Sastras provide us with examples of this. The religious obligations of men differ at different ages and vary according to caste *(jati)*, family *(kula)*, and country *(desa)*. A king, of instance, must judge according to the customs and particular duties *(svadharma)* of each religion. This idea of *svadharma* is important in understanding that *dharma* is relative to different contexts: what is correct action for a warrior would be incorrect for a Brahman, what is correct for a man may be incorrect for a woman, and so on. Manu says: 'one's own duty, [even] without any good qualities, is better than someone else's duty well-done'."[3]

It could be defined as follows:

1. धृति, क्षमा, दमोस्तेयं, शौचं इन्दियनिग्रहः,
   धीर्विद्या सत्यं अक्रोधो, दसकं धर्म लक्षणम्। मनुस्मृति

Meaning :

धारणा शक्ति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध - ये दस धर्म के लक्षण हैं।

2. श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। (पद्मपुराण 19/355-356)
   आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।।

[1] Madan, T.N. (2004) '*Introduction*' in T.N. Madan (ed.) *India's Religions: Perspectives from Sociology and History,* New Delhi: Oxford University Press, p. 3.
[2]Flood, Gavin (2004) '*Dharma*' in T.N. Madan (ed.) *India's Religions: Perspectives from Sociology and History,* New Delhi: Oxford University Press, p. 236.
[3] Ibid.

(धर्म का सर्वस्व क्या है, सुनो और सुनकर उस पर चलो! अपने को जो अच्छा न लगे, वैसा आचरण दूसरे के साथ नहीं करना चाहिये जो अपने अनुकूल न हो वैसा व्यवहार दूसरे के साथ न करना चाहिये- यह धर्म की कसौटी है।)

As per great Indian epic *Mahabharata*: "*Dharma* is so called because it protects *dharnat* (everything); *Dharma* maintains everything that has been created: *Dharma* is thus that very principle which can maintain the universe"[1]. Today, we do not need old texts or modern philosophers to tell us that "next to the category of reality, that of *dharma* is the most important concept in Indian thought"[2]. "Almost every Hindu, Jain, Buddhist, or Sikh, even if he is illiterate and of humble origin, knows that *dharma* is the foundation of the good life. Whether this is seen naively as an instance of equal social distribution of knowledge, or critically as the hegemonic imposition of the thought of the Brahmins on others, the fact remains that *dharma* is a rich word of everyday speech in India. This does not, however, mean that its meaning is easily conveyed in non-Indian languages. It is broader and more complex than the Christian notion of religion and less jural than our current conceptions of duty. It emphasizes awareness and freedom rather than the notion of *religio,* or obligation"[3].

Gandhi, (unlike Nehru, who wanted to eliminate religion from public domain and considered religion as antithetical to modernization and scientific temper and superstitious) strongly advocated for the inseparable and superior place of religion in socio-political context. Clearly alluding to significance of *Dharma* in public life he said, 'for me, every, the tiniest, activity is governed by what I consider to be my religion'[4]. He felt political reality and public life would be debased without drawing from absolute values of religion, i.e., *Dharma.*

For Buddhism, noble eightfold path is *Dharma* consisting of right views; right resolve; right speech; right conduct; right livelihood; right effort; right mindfulness, and right concentration.

[1] Lingat, Robert (!(&#) *The Classical Law of Indi.* Berkeley: University of California Press. 3 n2 (as referred in Madan, T.N. (2004) 'Epilogue' in T.N. Madan (ed.) *India's Religions: Perspectives from Sociology and History,* New Delhi: Oxford University Press, p.385.)

[2] Radhakrishnan, S (1923) *Indian Philosophy,* Vol. 1. London: Allen & Unwin. p. 52.

[3]Madan, T.N. (2004) op.cit. p.386.

[4] Cf. Iyer, Raghavan, ed. 1986: The *Moral and Political Writings of Mahatama Gandhi*. Vol. 1: *Civilization, Politics, and Religion*. Oxford: Clarendon Press. p.391.

For Jains, *ahimsa parmo dharma*, defines *Dharma*, means non-violence of speech, action and behavior towards living and non-living (like earth, water and wind) which would ensure respect for life and all existing entities.

For Sikhs, *Dharma* would the universally applicable code of conduct taught by the Divine Guru[1].

Madan writes: "An examination of the notions of *dharma* in India's cultural traditions reveals that in the earliest formulations it had less to do with supernatural powers or rituals than human activity and the moral integrity of the actor."[2]

When Christianity and Islam can embrace and adopt caste system unabashedly in India, why the very mention of *Dharma* evokes fears of majority hegemony? More so, when :

"A concept of multiple connotations, *dharma* includes cosmological, ethical, social, and legal principles, that provides the basis for the notion of an ordered universe. In the social context, it stands for the imperative of righteousness in the definition of the good life. More specifically, *dharma* refers to the rules of social intercourse laid down traditionally for every category of actor (or moral agent) in terms of social status *(varna)*, the stage of life *(ashrama)*, and the qualities of inborn nature *(guna)*. Put simply, for every person there is mode of conduct that is most appropriate: it is his or her *svadharma*, which may be translated as 'vocation'. The emphasis here is upon legitimacy in terms of authenticity; and authenticity flows from one's social position and physical nature; external coercion is of no real value. So much so indeed that the *Bhagavad Gita* (c. 200 BC – 200 AD), which is in our times the most widely known text of the Hindu religious tradition, repeatedly exhorts the actor to prefer failure in the pursuit of his vocation to success in someone else's role. Action to which one is born arises spontaneously and is easily performed: it is not a burden.[3]"

We are sure we do not want to take our nation into future on a debased ideology of secularism and hollow Western rational thought. It is an irony of history that modern intellectuals, Indians as well as Westerners, have generally considered religion (or religiosity) as the bane of the good enlightened life in South Asia and indeed everywhere. Considering the abuse of religion in our times, this opinion is not surprising.

*****

[1] Madan, T.N. (2004) 'Epilogue' in T.N. Madan (ed.) *India's Religions: Perspectives from Sociology and History*, New Delhi: Oxford University Press, p. 389.
[2] Ibid. p. 389.
[3] Ibid. p.386.

REVISITING PORTUGUESE COLONIZATION IN INDIA

Susheel Kumar Sharma[1]

The discovery of a new sea route rounding Africa from Western Europe to India in 1498 left an indelible impact not only on the European life but also on the Indian polity, economy and social life. For Europeans the discovery meant that the Portuguese would not need to cross the highly disputed Mediterranean nor the dangerous Arabian Peninsula and that the entire voyage could be made by sea. This resulted in the proclamation of the King Manuel of Portugal as the 'Lord of the Navigation, Conquest and Commerce of Ethiopia, Arabia, Persia and India' and he soon became "the wealthiest ruler of Europe" (Saraiva 334) and earned for himself the sobriquet of "the Spice King". A new era of global imperialism also started taking shape in the form of the Portuguese expansion on the Western Ghats in India from the present day Kozhikode (or Calicut, the place where Vasco da Gama landed) to Div in the north and up to Coromandel (the coast line of Andhra Pradesh and Tamil Nadu) though it was not always welcome. Gama was generously received with a grand procession of at least 3,000 armed Nairs by the Zamorin, the Hindu king of Calicut, but the presents that Gama was to send to the Zamorin as gifts from King Manuel ("twelve pieces of lambel [a striped cloth], four scarlet hoods, six hats, four strings of coral, a

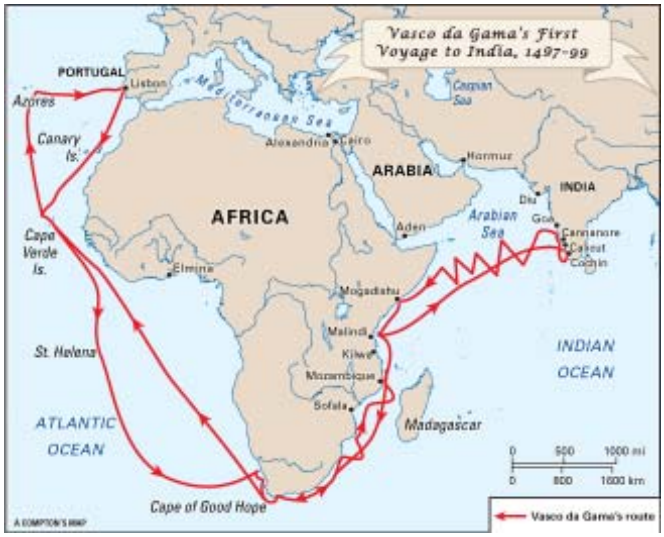

[1] Professor of English, University of Allahabad- 211002

case containing six wash-hand basins, a case of sugar, two casks of oil, and two of honey", Ravenstein 60), were trivial and failed to impress the Zamorin's factor, the Moor. Da Gama was jeered into shame as Zamorin's men burst out laughing, pointing out that even the poorest Arab merchants knew that nothing less than pure gold was admissible at court. Many also suggested that he was a pirate and not a royal ambassador. (Ravenstein 119, janson.no) Gama again tried to impress the Zamorin with his gifts "consisting of amber, corals, and many other things" (Ravenstein 70) but the latter refused even to have a look at them and suggested that they should have been sent to his factor. (*Idem*)

As unlike other foreign traders da Gama failed to pay taxes in gold he was refused the right to establish a factory1. Annoyed by this, da Gama carried a few (the number ranges from five to eighteen, Ravenstein 181) hostages (a few Nairs and sixteen fishermen (*mukkuva*) with him by force (crossingtheoceansea.com). During his next trip in 1502 da Gama was even crueller with competing traders and local inhabitants. He humiliated the Hindu Zamorin's high priest, Talappana Namboothiri, who had helped the former to meet Zamorin during his much celebrated first visit by calling him a spy; at his orders the high priest's lips and ears were cut off; the priest was let off after sewing a pair of dog's ears to his head. (thehistoryjunkie.com)The Portuguese who raised their warehouses at Kozhikode in 1500 and Kannur (Cannanore) in 1502, constructed three forts in 1503 (at Kollam/Quilon, Kottapuram/ Cranganore and Kochi/Cochin) and two in 1505 (at Anjediva Island and Kannur) to provide protection to their people who had conflicting interests with Arab and Indian traders. Alfonso De Albuquerque2, the second governor, followed the three-fold policy: of combating Muslims (the major political impediment) and their Hindu allies, spreading Christianity, and securing the trade of spices by establishing a Portuguese colony in India (*Estado Português da Índia*). In 1510, Albuquerque seized Goa from the Sultan of Bijapur and "started a reign of terror, burning 'heretics,' crucifying Brahmins, using false theories to forcibly convert the lower castes, razing temples to build churches

upon them and encouraging his soldiers to take Indian mistresses." (Francois Gautier) Denison Ross describes him as "the great Albuquerque" (15 & 17) because of his having established Portuguese naval superiority by quelling the Muslim (Moorish) powers that controlled the Arabian Sea. He also credits him for abolition of Sati3: "Albuquerque and his immediate successors left almost untouched the customs of the people of Goa, only abolishing, as did the English later, the rite of sati" (Ross 17-18) though the historical facts reveal entirely a different picture regarding the social and cultural persecution of the people as is also hinted in the following observation of Ross: "Albuquerque did everything in his power to encourage his Portuguese to take Indian wives." (11) Ross as a matter of fact is slightly off the mark in his observation as he should have written: "Albuquerque did everything in his power to encourage and compel Indians to accept Portuguese as sons-in-law or husbands." A large number of New Christian Portuguese4 were also coming to India because they were being discriminated against on the basis of their faith as is clear from King Manuel's letter (dated February 18, 1519): "prohibiting the naming of New Christians to the position of judge, town councillor or municipal registrar in Goa, stipulating, however, that those already appointed were not to be dismissed." (Saraiva 347) António José Saraiva writes: "Upon [Albuquerque's] death at Goa the city had a permanent Luso-Indian population, an administration and divers industries." (Saraiva 343)

Proselytising: A Mission to Swap

The Papal Bull, *Romanus pontifex*, written by Pope Nicholas V in 1454 granted the patronage of the propagation of the Christian faith in Asia to the Portuguese and rewarded them with a trade monopoly in newly discovered areas. The Doctrine of *Padroado* (*jus patrionatus* established by the Papal Bulls of 1514) provided the authority for missionary work to be in the hands of the Portuguese Crown in areas where Portugal claimed political rights. (vgweb.org) The first Luz church was built by the Portuguese in 1516 in Thirumayilai (Mylapore). Missionaries of the newly founded Society of Jesus (1534) were sent to Goa and the Portuguese colonial government supported the mission with incentives like rice donations for the poor, good positions in the Portuguese colonies for the middle class, and military support for local rulers. (Daus 61-66) St. Francis Xavier was very clear in his mind when he wrote: "I want to free the poor Hindus from the stranglehold of the Brahmins and destroy the places where evil spirits are worshipped." (Francis Xavier qtd by Michael Kerrigan) Denison Ross writes: "It

may be recalled … that after the arrival of the Franciscan missionaries in 1517 Goa had become the centre of an immense propaganda, and already in 1540 by the orders of the king of Portugal all the Hindu temples in the island of Goa had been destroyed." (18) Fr. Diogo da Borba and his advisor Vicar General, Miguel Vaz drew plans for converting the Hindus to Christianity. "In a letter dated March 8, 1546 King João III ordered the

Viceroy to forbid Hinduism ('Gentile idolatry') in all the Portuguese possessions of India, destroy Hindu temples, prohibit the celebration of Hindu feasts, expel all Brahmins and severely punish anyone making Hindu image." (Saraiva 348) "The viceroy, D. Constantino de Bragança passed a decree in 1559 ordering the destruction of remaining temples and idols." (Mendonça 260) However, Victor Ferrao, Dean Patriarchal Seminary of Rachol, disputes the claim by saying: "… the word Hindu does not exist in the entire sixteenth century Indo-Portuguese historiography." (nizgoenkar.org) He further holds: "Though the temples that were demolished were not Hindu, but [the] one(s) that belonged to different cults that have united into Hinduism of today the Hindu community is certainly carrying the pain of this false impression … (nizgoenkar.org) The Kapaleeswarar (Shiva) temple (Mylapore, Chennai) was destroyed by the Catholic Portuguese in 1561 and in its place came up St. Thomas Cathedral (Santhome Church) where some fragmentary inscriptions from the old temple are still there. In 1566 António de Noronha (Bishop of Elvas) issued an order applicable to the entire area under Portuguese rule: "I hereby order that in any area owned by my master, the king, nobody should construct a Hindu temple and such temples already constructed should not be repaired without my permission. If this order is transgressed, such temples shall be, destroyed and the goods in them shall be used to meet expenses of holy deeds, as

punishment of such transgression." (qtd by de Souza vgweb.org) It is claimed that the Jesuits destroyed 280 Hindu temples in Salsette and the Franciscan friars 300 in Bardez in 1567. In 1583, Hindu temples at Assolna and Cuncolim were destroyed through army action. (de Souza vgweb.org) Fatima Gracias writes: "It is true a considerable number of the Goan temples were erased by the Portuguese rulers but some were built in the 18th century." ("Impact" 45)

St. Francis Xavier hated Brahmins for he considered them to be the biggest hurdle in his proselytizing mission: "[The Brahmins] are the most perverse people in the world, and of them was written the psalmist's prayer: *De gente non sancta, ab homine iniquo et doloso eripe me* ["From an unholy race, and wicked and crafty men, deliver me, Lord"]. They do not know what it is to tell the truth but forever plot how to lie subtly and deceive their poor, ignorant followers.... Were it not for these Brahmins all the heathen would be converted... ." (qtd by Pastor Don Elmore) Timothy J. Coates in his *Convicts and Orphans: Forced and State-Sponsored Colonizers in the Portuguese Empire, 1550-1755* writes: "The Pai dos Cristãos enforced a series of laws, known as the Laws in Favour of Christianity, aimed at the forced or coerced conversion of a number of South Asian communities under Portuguese political control." (167) In his book *Conversions and Citizenry: Goa Under Portugal, 1510-1610* Délio de Mendonça, writes: "[The viceroy, D. Pedro Mascarenhas (1554-1555)] promulgated several laws in favour of conversion and ordered them to be read on the streets of Goa. These orders banned all the Hindu ceremonies in Portuguese territory, and demanded the separation of Hindu orphans from their relatives so that they might be brought up in Christian customs." (258) Timothy J. Coates gives details of the laws to promote Christianity by adopting orphans malevolently:

> In 1559, King D. Sebastião passed a law … stating that [the children] without mothers, fathers, or grandparents and who "were not old enough to have an understanding of reason" should be turned over to the juiz dos órfãos and placed in the College of São Paulo, where they were to be baptized. … In 1567, the law was reinterpreted by Bishop D. Jorge Semedo to read that being fatherless alone was sufficient grounds to declare a child an orphan and separate him or her from remaining family, even if the child's mother and other relatives opposed it. ... Some orphans attempted to evade this new understanding by marrying but under fourteen and under twelve years of age were not allowed to marry and

> were forcibly converted as well. This law was enforced by having all such children turned over to the captain of the area (that is, Goa, Bardez, Salsette). The captain entrusted the child to the authorities of the College of St. Paul. Anyone hiding such children was threatened with loss of his or her property and indefinite exile. (166)

The orphans were being eyed by the Portuguese "not only by desire to save their souls but also by anxiety to take charge of their estates." (Priolkar 128)

Various measures were introduced to separate the Christians from others. Several decrees were issued to prevent the Christians from following non-Christian customs and prevent Hindus from following many of their customs. (Gracias *Kaleidoscope* 47) Laws were passed banning Christians from keeping Hindus in their employ and the public worship of Hindus was deemed unlawful. All the persons above 15 years of age were compelled to listen to Christian preaching, failing which they were punished. Historian Anant Priolkar gives details of how Hindus were forced to assemble periodically in churches to listen to the refutation of their religion. (123-25) In order to humiliate the locals the Viceroy ordered that Hindu Pandits and doctors be disallowed from entering the capital city on horseback or palanquins, the violation of which entailed a fine. Successive violations resulted in imprisonment. Christian palanquin-bearers were forbidden from carrying Hindus as passengers. Christian agricultural labourers were forbidden to work in the lands owned by Hindus, and Hindus forbidden to employ Christian labourers. (Priolkar 114-149) Similarly Délio de Mendonça on the basis of various historical documents writes: "The viceroy, D. Constantino de Bragança, implemented mercilessly all the decrees in favour of conversion. He promulgated a few more, even stronger than those of his predecessors. He passed a decree in 1559 ordering the destruction of remaining temples and idols. Bragança expelled harmful Brahmans from Goa in 1560. To those who had immovable property he gave one month to sell it; the others had to leave Goa immediately. In default they would be sent to the galleys after forfeiting their goods. Under the same threat he ordered all the goldsmiths … to bring [their women folk and children and goods] back to the island or abandon the land." (260) The first provincial council held in 1567 prevented women from seeking help of non-Christian dai at the time of delivery because they used non-Christian rituals. On September 22, 1570 an order proclaiming that the Hindus embracing Christianity would be exempted from land taxes for a period of 15 years and prohibiting the use of

Hindu names or surnames was issued. (vgweb.org) Hindu widows and daughter were encouraged to convert to Christians with the bait of property of the departed husband if they did not the property was given to the nearest relative who converted. The slaves of the infidels who converted to Christianity were to be freed by the proclamation of 1592. Sebastião in 1559 decreed that property could be inherited by the sons, grandsons or other relatives of a deceased Hindu only if they had converted to Christianity. On the basis of various records Priolkar gives details of racial discrimination that continued even after conversion not only in matters of appointments, promotion, social gatherings but also in hospitals. (143-146)

At the urging of Franciscans, the Portuguese viceroy forbade the use of Konkani in 1684. He decreed that within three years, the local people should speak the Portuguese tongue and use it in all their dealings in Portuguese territories. The penalty for violation was imprisonment. The same decree provided that all the non-Christian symbols along with books written in local languages should be destroyed. This decree was confirmed by the King of Portugal three years later. In 1812, the Archbishop of Goa decreed that Konkani should be restricted in schools. In 1847, this prohibition was extended to seminaries. In 1869, Konkani was completely banned in schools. Konkani became the *lingua de criados* ("language of servants"). In an effort to eradicate indigenous cultural practices such as observing ceremonies, fasts, music, festivals, dresses, foods and greetings, the laws and prohibitions of the inquisition were invoked in the edict of 1736 whereby over 42 Hindu practices were prohibited, including anointing foreheads with sandalwood paste and rice, greeting people with Namaste, singing Konkani *vovios* (Limericks) in marriages, (and songs on festivals, and social and religious ceremonies like child birth, singing of *bhajans* and *kirtan*), playing of native musical instruments, celebrating the birth of deities like Lord Krishna, exchanging areca nuts, betel leaves and flowers on weddings, distribution of fried *puris*, the practice of massaging the bridal couple with oil, ground saffron, coconut milk, rice flour and powder of *abolim* leaves, inviting relatives of the bride and groom in marriage ceremonies, presence of a priest (*Bottos*) to perform any kind of religious ceremony (including thread ceremony and marriages) in Hindu households, erection of *pandals* and the use of festoons, serving of ceremonial feasts at the birth of children and for the peace of the souls of the dead, fasting on *ekadashi* day (though fasting done according to the Christian principles was allowed), wearing of the Brahminical ponytail (*úikhâ*), sacred caste thread and dhoti (*pudvem*) by Hindu men either in public or in their houses, *cholis* by Hindu women,

sandals, removing the slippers while entering the church and growing of the sacred *Tulsi* (basil) plant in houses, compounds, gardens or any other place. (Newman 17) The Christians were forbidden from eating boiled rice without salt as done by Hindus. (*Kaleidoscope* 48) As severe decrees were issued against Hindu festivities and celebrations they, in order to escape punishment, started celebrating them secretly during night time. Even the entry of Hindu Joshis, Jogees and Gurus of temples was banned as they were perceived as a threat. In the fourth decade of the 20th century, the State ordered that Goans should appear wearing pants in all towns of Goa, in headquarters of the New Conquests and ferry wharfs of Betim, Durbate, Rachol, Savordem, Dona Paula and Piligação. However, non-Christians were allowed to wear a coat along with *pudvem* instead of pants. (Idem) "The same Council decreed that Christians should not ask non-Christians to paint their idols neither ask Hindu goldsmiths to make candlesticks, crosses and other Church requirements." (*Kaleidoscope* 56) Polygamy was prohibited in 1567 and Monogamy was imposed on non-Christians. (Robinson 2000, Saraiva 351, vgweb.org) though Hindu men were permitted by their *Codigo dos Usos e Costumes* to have more than one wife in certain conditions (*Kaleidoscope* 143-144) Those who considered these impositions unlawful and dared to oppose the regulations were severely punished. H P Salomon and I S D Sassoon claim that between the 1561 and in 1774, at least 16,202 persons (of whom nearly 90% were natives) were brought to trial by the Inquisition. This being the number of the documents burnt at the suggestion of the Portuguese Viceroy in India and the approval of Prince Regent João. (Saraiva 345-346) These figures present only an incomplete picture as is clear from the following remarks of Salomon and Sassoon: "Research on the 17th century has not yet been completed as far as quantitative and statistic studies are concerned" (Saraiva 351) and "The last phase of the Goan Inquisition, 1801-1812, which saw 202 persons sentenced, has not yet been analyzed." (Saraiva 353)

Terrorising Mission

Acting upon the requests of Vicar general Miguel Vaz in 1543 and St. Francis Xavier in 1546 João (John) III installed the Inquisition5 in Goa on 2 March 1560 with jurisdiction over Goa and the rest of the Portuguese empire in Asia. Though it was officially repressed in 1774 by Marquis of Pombal, Queen Maria I reinstated it in 1778. It finally came to an end in 1812 by a royal decree as a consequence of Napoleon's Iberian Peninsular campaign. It was "the only tribunal outside of Portugal … [with a]

jurisdiction over the entire 'Orient' from Eastern Africa to Timor." (Saraiva 174). Perhaps because of their Catholic fervour, the Portuguese inquisitors in Goa became the most severely fanatic, cruel and violent in all Portuguese territories. It was headed by a

Portuguese judge who was answerable only to the General Counsel of the Lisbon Inquisition and handed down punishments as per the Standing Rules that governed that institution though its proceedings were kept secret. The Inquisition prosecuted apostate New Christians (*Marranos*) as well as their suspect descendants (practising the religion of their ancestors in secret), Goan Sephardic Jews who had fled from Spain and Portugal to escape Spanish or Portuguese Inquisition and the non-converts who broke prohibitions against the observance of Hindu or Muslim rites or interfered with Portuguese attempts to convert non-Christians to Catholicism. The observance of former customs after conversion was declared un-Christian and heretical. Those accused of religious heresies were the prime targets of the death penalty. (Silva and Fuchs 4–5)

The records speak of the demand for hundreds of prison cells to accommodate the accused. (Hunter) Inquisitions helped the Portuguese in preventing defection back to the original faiths as it provided "protection" to those who converted to Christianity. A pardon for punishment could be bargained in lieu of property. According to Indo-Portuguese historian Teotonio R de Souza, grave abuses were practised in Goa. (91) Historian Alfredo de Mello in his Memoirs of Goa "has given all the spine-chilling details relating to anti-pagan, anti-heathen, and anti-Hindu 'Christian Compassion' during the course of Holy Inquisition in Goa from 1560 to 1812." (qtd by V Sundaram) De Mello describes the performers of Goan inquisition as "nefarious, fiendish, lustful, corrupt religious orders which pounced on Goa for the purpose of destroying paganism and introducing the true religion of Christ" (qtd by V Sundaram) R. N. Saksena writes "in the name of the religion of peace and love, the tribunal(s) practiced cruelties to the extent that every word of theirs was a sentence of death." (24)

It was not always for catholic reasons but also because of the personal rivalries,

prejudices and jealousies that a person was sent to inquisition as is evident from Dellon's case. (20-24) Dellon, a 24 year-old Roman Catholic Frenchman, practising medicine in Daman was apparently charged and imprisoned by the order of the Inquisition at Goa for not kissing the painted image of "the Holy Virgin or some other saint" (12) on the small alms boxes as was the custom of the local Catholics, for asking a patient to part with the "ivory image of the Holy Virgin" (12) that he had in his bed before the operation, describing the crucifix "as a piece of ivory" (14), refusing to wear a rosary (15) and questioning the infallibility of the inquisitors in a friendly conversation with a priest (15-16). However, the real reason for his imprisonment and final banishment from Daman/Goa by the order of the Inquisition was the ill-conceived malice and jealousy of the Governor of Daman, Manuel Furtado de Mendoza and that of "a black priest, Secretary of the Holy Office". (21) Both of them harboured a secret passion for a lady whom the doctor admired and visited; the lady also perhaps doted on the doctor. The Governor dissembled as a friend and reported private conversations to the Inquisition at Goa because he wanted him to be away from his secret love about which the doctor was ignorant. The priest lived opposite to the lady's house "and had repeatedly solicited her to gratify his infamous passion, even when at confession." (21) Dellon thus reports his first hand experience in the inquisition prison cell: "… I every morning heard the cries of those whom the torture was administered, and which was inflicted so severely, that I have seen many persons of both sexes who have been crippled by it … . No distinctions of rank, age or sex are attended to in this Tribunal. Every individual is treated with equal severity; and when the interest of Inquisition requires it, all are alike tortured in almost perfect nudity." (93-94) Lust of the clergy was another reason for sending somebody for Inquisition is borne out by the following reported confession: "In 1710, a dying priest told his confessor that he and the other priests in his diocese had regularly threatened their female penitents that they would turn them over to the Inquisition unless they had sex with them!" (Kramer and Sprenger) Historian Alexandre Herculano in his "Fragment about the Inquisition" also hints at the perversity of the Inquisitors: "… The terrors inflicted on pregnant women made them abort. ... Neither the beauty or decorousness of the flower of youth, nor the old age, so worthy of compassion in a woman, exempted the weaker sex from the brutal ferocity of the supposed defenders of the religion. ... There were days when seven or eight were submitted to torture. These scenes were reserved for the Inquisitors after dinner. It was post-prandial entertainment. Many a time during those acts, the inquisitors compared

notes in the appreciation of the beauty of the human form. While the unlucky damsel twisted in the intolerable pains of torture, or fainted in the intensity of the agony, one Inquisitor applauded the angelic touches of her face, another the brightness of her eyes, another, the voluptuous contours of her breast, another the shape of her hands. In this conjuncture, men of blood transformed themselves into real artists!" (qtd by Alfredo de Mello)

Inquisition affected the economic life of the people as well. On one hand it was an easy way to take control of somebody's hard earned money/property on the other it was bringing down productivity and ruining business. Commenting on the importance of the confiscation of the properties of the accused Saraiva writes: "From the economic point of view, the Inquisition was not a commercial enterprise but a vehicle for distributing money and other property to its numerous personnel – a form of pillage, as in war, albeit more bureaucratized. The Inquisitorial army, whose members shared the seigniorial and warrior mentality of the Portuguese fidalgos in India, maintained themselves by plundering the property of wealthy bourgeois" (Saraiva 187) Saraiva agrees with Luis da Cunha (1662-1749) who lays the blame at the Inquisitors' door for "the decadence of textile manufacture in the Beiras and Tras-os-Montes provinces, the decline of sugar production in Brazil." (Saraiva 221) Doubts about Inquisition were being expressed even back home as Inquisition could ruin the prospects of the Portuguese empire if the New Christians were discriminated and persecuted:

> "If the Portuguese Inquisition continues unchecked:
>
> It will spell ruin of Portugal and even part of Spain. For in all of Portugal there is not a single merchant (hombre de negocios) who is not of this Nation. These people have their correspondents in all lands and domains of the king our lord. Those of Lisbon send kinsmen to the East Indies to establish trading-posts where they receive the exports from Portugal, which they barter for merchandise in demand back home. They have outposts in the Indian port cities of Goa and Cochin and in the interior. In Lisbon and India nobody can handle the trade in merchandise except persons of this Nation. Without them, His Majesty will no longer be able to make a go of his Indian possessions, and will lose the 600,000 ducats a year in duties which finance the whole enterprise – from equipping the ships to paying the seamen and soldiers." (Zellorigo qtd by Saraiva 145)

French writer, historian and philosopher François-Marie Arouet Voltaire attacked the established Catholic Church and lamented that Goa is inglorious for Inquisitions: "Goa est malheureusement célèbre par son inquisition, également contraire à l'humanité et au commerce. Les moines portugais firent accroire que le peuple adorait le diable, et ce sont eux qui l'ont servi." (Goa is sadly famous for its inquisition, equally contrary to humanity and commerce. The Portuguese monks made us believe that the people worshiped the devil, and it is they who have served him. Voltaire, p. 1066)

Portuguese East India Company:

The royal trading house, *Casa da Índia*, founded around 1500 used to manage Portuguese trade with India. However, trade to India was thrown open to Portuguese nationals by 1570 as the Casa was incurring huge losses. As few took up the offer, the Casa started selling India trading contracts to private Portuguese merchant consortiums in 1578, granting them a monopoly for one year. The annual contract system was abandoned in 1597 and the royal monopoly was resumed. However, the vigorous competition with Dutch VOC and English East India Company after 1598 forced the king to experiment to defend the Portuguese business propositions. As a result in 1605 *Conselho da Índia* was created to bring affairs in Portuguese India but it was dissolved in 1614. In the wake of the severe competition with other European companies in August 1628 the *Companhia do commércio da Índia* (or *Companhia da Índia Oriental*), organized along the lines of Dutch and English companies, came into existence by a charter of King Philip III. The idea of a chartered private Portuguese East India Company was first broached and promoted by a Portuguese New Christian merchant Duarte Gomes Solis who lived in Madrid. The Company was granted a monopoly on trade in coral, pepper, cinnamon, ebony and *cowrie* shells and could be extended to other items upon request. It had full administrative and juridical privileges, including the right to keep all spoils from seizures of Dutch and English ships. "Chapter Ten of the rule book of the Company enacts that, in case of Inquisitorial confiscation, the confiscated assets would continue to belong to the Company and would revert to the heir of the convicted person in the third generation. The subscribers of the capital investment who furnished more than a specified sum were to be ennobled." (Saraiva 200) The Company proved unprofitable as the overseas Portuguese merchants rejected the new Company's authority. The Company was dissolved in 1633. "On the initiative and through the

mediation of the Jesuits, the New Christians offered to finance once again an "East India Company" on the model of the British and Dutch East India Companies, in exchange for a general amnesty and drastic reforms in Inquisitorial procedure. The proposal was drawn up at the beginning of 1673 by a Jesuit, Father Baltasar da Costa, Provincial of the Malabar coast of India and presented to the king by another Jesuit, his confessor. … The regent Pedro … gave his consent… ." (Saraiva 215)

Luso-Indians:

To meet the natural requirement of women for the Portuguese men in the growing powerful Portuguese presence in the Arab sea and Indian Ocean Albuquerque, under his policy *Politica dos Casamentos*, encouraged marriages between Portuguese men and native women as the number of Portuguese females who came with Portuguese officials (*renois*), those who were born to Portuguese parents in India (*castiças*), others who came on ships (*aventureiras*) and women of mixed blood (both *mestiços* and *mulatas*) in 16th century was very limited. Two hundred such marriages were arranged within two months of the Goan conquest. However, the marriages were not approved until the women were baptized as Christians and those who converted were given extra privileges and gifts by their husbands and rulers as rewards. (Rao 42) The primary motive of such arrangements was to divert Hindu property to Portuguese and to create a new community that would identify itself with Portuguese power but would be happy to be in this region; this would also create a white identity which in turn would perpetuate the Portuguese rule in the region. The men involved were not gentlemen but mainly rank and file (like soldiers, masons, carpenters and other artisans) and the exiled convicts (like gypsies, prostitutes, vagabonds and beggars called *degredos*) on account of the law of the Sesmarias and "Beggars' Law" in Portugal6. It is said that Albuquerque gave dowry (18000 *reis*, clothes, rice, a house, slave women, cattle and a piece of land) to each of such couples. Such men as took native wives were known as *casados*; they had special privileges as Albuquerque treated these women as his own daughters and men his sons-in-law. They were given pay and groceries (*soldo e mantimento*), separate quarters (*bairros*) in urban areas and locally important positions such as tanadar and tabelio. Despite this many soldiers preferred to have only casual relationship with native women who came from various social groups viz. those associated with soldiers and administrators from the proceeding Adil Shahi administrators, fair Mooresses and slaves, Mestiços and temple dancers. As Albuquerque was very conscious of colour he advised

his men to marry fair Hindu and Muslim women and encouraged them to avoid dark complexioned Malabaris. (Bethencourt 210) Though these women invariably were converted to Christianity yet there was some opposition to such marriages from certain quarters in the Church and the Government. However, the state reiterated its stand and policy in the form of *alvara* issued in 1684. The estimated number of *casados* in Portuguese Asia was 6000 in 1600. Many noblemen (*fidalgos*) who migrated to India had left their wives and children back home and had either kept native women as mistresses or had developed lasting relationships with temple dancers (*devadasi/ baidadeiras*). "In the 16th century, Chinese, Korean and Japanese slaves were also brought to Portugal and the Portuguese settlements, including Goa." (lydiafellowshipinternational.org) A large number of them were brought for sexual purposes, as noted by the Church in 1555. (Leupp 51-54) King Sebastião of Portugal feared that "it was having a negative effect on Catholic proselytisation since the trade in Japanese slaves was growing to massive proportions. At his command it was banned in 1571." (lydiafellowshipinternational.org) In order to prevent men from indulging in lustful and sinful lives, to bring down the number of mixed marriages in India, to transfer their surplus population in Portugal to other places and to increase Portuguese presence in the colonies they shifted Portuguese girl orphans (*Órfãs d'El-Rei* or "Orphans of the King") at the expense of the crown to Portuguese colonies in India (particularly Goa) "to marry either Portuguese settlers or natives with high status". (worldheritageofportugueseorigin.com) Not only did several batches of such girls arrive between 1545 and 1595 in Goa but also "the system apparently continued to function intermittently until the (early) eighteenth century." (Coates 43) Those who married such girls were given various incentives ranging from captaincy of forts to trading agencies along with dowry. Despite this all the girl orphans could not find "suitable husbands" as most of them "lacked good looks" besides being "old and sickly." The Inquisition came into existence to punish Hindus and Muslims around the same time. In 1620, an order was passed to prohibit the Hindus from performing their marriage rituals. "A document available at Torre do Tombo states that in the middle of the seventeenth century the Municipal Council of Goa (*Senado*) requested the Portuguese king to decree that 'no Brahmin or *Chardo* who is rich or has property might marry his daughter to any one except to a Portuguese born in Portugal and such people must leave their property to their daughters'" (*Kaleidoscope* 41) It may be noted that the higher castes in Goa and elsewhere practiced Sati for various reasons. No wonder that

caste Hindu women burnt themselves (performed Sati) in such an atmosphere to save their honour and save their families from humiliation. Again, women are generally considered as a prize catch after a war. If women burn themselves as a strategy (known as scorched earth policy in the warfare) the soldiers do not get anything and a discontent among them grows. In this light it can be understood easily that Albuquerque's banning of sati in Goa (Ross 18, De Souza 70) was not for having any compassion for Hindu women but to have an easy access to the women to meet the requirements of his men and complete his agenda. (*Kaleidoscope* 44) Such marriages were intended to increase the wealth of Portuguese and the number of Christians by conversion, to have enough persons for Indian army loyal to Portugal and to enlarge white colony. The mixed-race children bore no stigma of inferiority to the Portuguese. Today Luso-Indians are viewed as a sub-caste of Anglo-Indians.

The Decline of Portuguese:

Denison Ross in Cambridge History of India writes: "… if one of [Turks'] fleets had succeeded in driving the Portuguese out of their fortresses on the Indian coast, the establishment of Christian powers in India might have been indefinitely postponed" (27) but that did not happen. Every born person has to die and those at the pinnacle once have to come down. So was the case Portuguese rule in India. Penrose writes: "In so far as any one date can be taken as of prime importance in the ruin of Portuguese empire, it is 6 May 1542, when Francis Xavier set foot ashore at Goa. From then on the Jesuits did their worst, using every form of bribery, threat, and torture to effect a conversion." (14) Discussing the issue Denison Ross writes: "The ultimate decline of Portuguese power in India was due primarily to two causes: first, the encouragement of mixed marriages at home and abroad, and secondly, religious intolerance. The former policy had been adopted … by the great Albuquerque, who probably foresaw that constant drain on the male population of a relatively small country like his own must ultimately lead to a shortage of man-power; the latter was pushed to its utmost extreme by the zealous fervour of the Jesuits who selected Goa as their second headquarters outside Rome, soon after the foundation of their order. The arrival of St Francisco Xavier in India in 1542 was an event of the most far-reaching importance and laid the foundations of the ecclesiastical supremacy in Portuguese India which sapped the financial resources and undermined the civil administration of its Governor." (17-18) The famous historian and writer Teófilo Braga wrote: "there are two dates

which signal the downfall of the nationality: 1536, when the Inquisition was inaugurated in Portugal, due to the instigations of the Emperor Charles V, of Spain, and with the loss of the freedom of conscience, silencing the poet who had most fought on its behalf, Gil Vicente; and 1580, the national independence becomes extinct on account of the invasion of Philip II (of Spain) who imposed his dynastic rights." (qtd by Alfredo De Mello)

On the political front, the Dutch entered into an alliance with the English for ousting the Portuguese from Kerala waters in 1619 and in 1629 the Portuguese lost a war to Shah Jahan at Hugli (Kolkata). Gradually the Dutch and English drove the Portuguese from the Arabian Sea and Malabar fell to the Dutch in 1641. In 1652, Sivappa Nayaka of the Nayaka Dynasty defeated the Portuguese and drove them away from Mangalore. Quilon fell to Dutch in 1661, followed by Cranganore in 1662. The islands of Bombay (later to be leased to British East India Company) were gifted to Charles II of England as dowry on his marriage with Catherine of Portugal in 1662. In January 1663 the combined forces of the Dutch and the Zamorin of Calicut defeated the Portuguese at Cochin. This ended 165 years of Portuguese rule in Kerala and they were pushed to Goa, Daman and Diu.

In 20th century Tristão de Bragança Cunha, a French-educated Goan engineer and the founder of Goa Congress Committee in Portuguese India resisted the Portuguese rule in Goa. Cunha released a booklet called 'Four Hundred Years of Foreign Rule', and a pamphlet, 'Denationalisation of Goa', intended to sensitise Goans to the oppression of Portuguese rule. In 1954 India took control of Dadra and Nagar Haveli which Portugal had acquired in 1779. The Portuguese rule in India came to an end on 19th December 1961 when the Governor of Portuguese India signed the instrument of surrender of Goa, Daman and Diu against the Radio directives (dated 14 December 1961) of the Portuguese Prime Minister Salazar and the presidential directive for adopting scorched earth policy. However, the surrender was not accepted by the Portuguese Govt. Entire Portugal mourned the loss and even Christmas was not celebrated with traditional gaiety. Goans were encouraged to emigrate to Portugal rather than remain under Indian rule by offering them Portuguese citizenship. This offer was amended in 2006 to include only those who had been born before 19 December 1961. Salazar predicted that "difficulties will arise for both sides when the programme of the Indianization of Goa begins to clash with its inherent culture ... It is therefore to be expected that many Goans will

wish to escape to Portugal from the inevitable consequences of the invasion" (Salazar 18659) The Portuguese national radio station *Emissora Nacional* was used to encourage sedition and to urge Goans to resist and oppose the Indian administration. In order to weaken the Indian presence in Goa clandestine resistance movements in Goa were initiated and the Goan diaspora communities were urged to resist and oppose the Indian administration both through, general resistance and armed rebellion to weaken the Indian presence in Goa. The Portuguese government chalked out a plan called the '*Plano Gralha*' covering Goa, Daman and Diu, for paralysing port operations at *Mormugao* and Bombay by planting bombs in some of the ships anchored at the ports.(timesofindia.indiatimes.com) On 20 June 1964, Casimiro Monteiro, a Portuguese PIDE (*Polícia Internacional e de Defesa do Estado*) agent of Goan descent, along with Ismail Dias, a Goan settled in Portugal, executed a series of bombings in Goa. (pressdisplay.com)

Relations between India and Portugal thawed only in 1974, when Goa was finally recognised as part of India by Portugal. Portuguese Archbishop-Patriarch Alvernaz who had left for Portugal soon after Goan merger and had remained the titular Patriarch of Goa resigned in 1975. The first native-born Archbishop of Goa, Raul Nicolau Gonçalves (who was also the Patriarch of the East Indies), was appointed in 1978 though the Portuguese ruled in India for 450 years.

Henry Louis Vivian Derozio (18 April 1809 – 26 December 1831), the poet who wrote in English, is generally considered to be an Anglo-Indian though he comes from of mixed Portuguese stock. Derozio is considered to be the first nationalist poet of Modern India. His poem "To India - My Native Land" which reads as follows is regarded as an important landmark in the history of patriotic poetry in India:

My country! In thy days of glory past
A beauteous halo circled round thy brow
and worshipped as a deity thou wast—
Where is thy glory, where the reverence now?
Thy eagle pinion is chained down at last,
And grovelling in the lowly dust art thou,
Thy minstrel hath no wreath to weave for thee
Save the sad story of thy misery!

Well—let me dive into the depths of time
And bring from out the ages, that have rolled
A few small fragments of these wrecks sublime
Which human eye may never more behold
And let the guerdon of my labour be,
My fallen country! One kind wish for thee! (poemhunter.com)

However, in the light of the above mentioned historical facts it may safely be concluded that in his phrase "My fallen country" he was lamenting the loss of Portuguese empire to other European powers.

Notes and References:

1. Factory: In those days a factory did not mean "a building where goods are made" but meant: "a trading centre at a foreign port or mart". (Hobson Jobson p. 346)

2. Alfonso De Albuquerque (1453-1515) had come to India first as a naval commander in 1503; he was the second "Governor of Portugal" in the east (appointed in 1509; Ross 654); Saraiva (343) claims he was a Viceroy of India though only the members of the nobility were entitled to the title of Viceroy.

3. Sati: Toeing the British line of enlightenment and humanitarian project most of the Indian text books of history even today credit the social reform movement of the "good-hearted English officials" and "sane and educated Indians" like Raja Ram Mohan Roy to end "the inhuman practice of Sati despite the opposition and pressure from the religious leaders" which culminated in the regulation of December 4, 1829 by the then Governor-General Lord William Bentinck to abolish the practice.

4. New Christian Portuguese: the descendants of some 70,000 Jews in Portugal who were forcibly converted to Christianity in 1497. "Historian Jerónimo Osório (1506-1580), tells of an agreement signed at Lisbon between the leaders of the Jewish community and a representative of the king, whereby the Jews accepted mass baptism and the king promised to restore their children and immovable goods, give them privileges and honourable employment and refrain from introducing the Inquisition into Portugal." (Saraiva 13)

5. Inquisition: "Inquisition may be described as an ecclesiastical tribunal for suppression of heresy and punishment of heretics." (Priolkar 3) "The popes, who claimed the spiritual allegiance of all Christendom, regarded heresy as treason against themselves, and, as such, deserving all the penalties which sovereigns have uniformly visited on this, in their eyes, unpardonable offence." (Prescott 191) James A. Haught writes: "Efforts to stamp out heresy led to the establishment of the Holy Inquisition, one of mankind's supreme horrors. In the early 1200s, local bishops were empowered to identify, try, and punish heretics. When the bishops proved ineffective, traveling papal inquisitors, usually Dominican priests, were sent from Rome to conduct the purge." (55) Lord Acton writes: "The principle of the Inquisition was murderous. ... The popes were not only murderers in the great style, but they also made murder a legal basis of the Christian Church and a condition for salvation." (qtd by James A. Haught 62) While its ostensible aim was to preserve the Catholic faith, the Inquisition was used as an instrument of social control against Indian Catholics and Hindus and also against Portuguese settlers from Europe (mostly New Christians and Jews but also Old Christians). It also was a method of confiscating property and enriching the Inquisitors.

   The 'Holy Office', as it called itself, settled in the palace of the Adil Khan, being occupied by the Portuguese Viceroys in Goa up to 1554. The palace was modified with a chapel, halls of entrance, the hall of audiences, house of despacho, residence of the first inquisitor, house of secret, house of doctrine, any number of cells, and other special ones: of secret, of penitence; of perpetual confinement; of the tortures, all this within a great building which had a thick outer wall of seven spans (1.5 mts). The Palace of the Inquisition was pointed out in awe by Goans, who called it Orlem Goro or Big House, with two hundred cells. The Inquisition in Goa, on account of its rigors, was reputed to be the worst of the existing inquisitions in the catholic orb of the five parts of the world, as felt unanimously by national and foreign writers. The enormous Palace that had housed the Inquisition for 252 years was demolished in 1829, and there are no traces of it except for some mounds of bricks and stones.

   Many kinds of torture of which some are being mentioned here were practiced by the Inquisitors: 1) The torture by rope consisted of the arms being tied

backwards and then raised by a pulley, leaving the victim hanging for some time, and then let the victim drop down to half a foot above the floor, then raised again. The continued up-and-down movement dislocated the joints of the prisoner who cried horribly in pain. 2) In the torture by water the victim was made to lie across an iron bar and was forced to imbibe water without stopping. The iron bar broke the vertebrae and caused horrible pains, whereas the water treatment provoked vomits and asphyxia. 3) The victim was hung above a fire in the torture by fire; it warmed the soles of the feet, and the jailers rubbed bacon and other combustible materials on the feet. The feet were burned until the victim confessed. The house of torments was a subterranean grotto so that other might not hear the cries of the wretched. Many a time, the victims died under torture; their bodies were interred within the compound, and the bones were exhumed for the 'auto da fe', and burnt in public.

6. "Beggars' Law" in Portugal: A J R Russell-Wood writes on the issue: "From an early date, overseas territories had been regarded as suitable repositories for undesirables of metropolitan Portugal: convicts, New Christians, gypsies, and even lepers. Reference has been made to the use of Lançados in West and East Africa, but they were to be found as far away as Fukien coast of China. Exile (degrêdo) from Portugal could be to the Atlantic Islands, … or even Portuguese India. There was ranking of places of exile from the acceptable to least desirable: … Brazil, Maranhão, and India, held little hope of return to Portugal." (106)

Works Cited:

Bethencourt, Francisco. *Racisms: From the Crusades to the Twentieth Century*. Princeton: Princeton UP, 2013, Print.

Coates, Timothy "State-Sponsored Female Colonization in the Estado da índia." *Santa Barbara Portuguese Studies*, II (1995): 40-56. Print.

Coates, Timothy J. *Convicts and Orphans: Forced and State-Sponsored Colonizers in the Portuguese Empire, 1550-1755*. Stanford: Stanford UP, 2001, Print.

Daus, Ronald. *Die Erfindung des Kolonialismus*. Wuppertal. Peter Hammer Verlag, 1983, pp. 61-66, qtd in http://www.newworldencyclopedia.org/entry/

Portuguese_India#cite_note-7 .

Deccan Chronicle, 23 July 1964, Web. 14 May 2016. http://www.pressdisplay.com/pressdisplay/showlink.aspx?bookmarkid=LNDP1YIXVM48&preview=article&linkid=c92b1c46-fe60-4850-ac79-5e0c88aae447&pdaffid=v5bSHN76UPAp%2fS6%2bOwjgMg%3d%3d

De Mello, Alfredo. "Inquisition in Goa (1560-1812)." Web. 17 June 2017. http://www.colaco.net/1/inquisition1.htm

de Mendonça, Vitor Délio Jacinto. *Conversions and Citizenry: Goa Under Portugal 1510-1610*. New Delhi: Concept, 2002, Print.

de Souza, T. R. "The Goa Inquisition". Web. 12 may 2016. http://www.vgweb.org/unethicalconversion/GoaInquisition.htm .

de Souza, Teotonio R. *Discoveries, Missionary Expansion and Asian Cultures*. New Delhi: Concept, 1994, Print.

Dellon, Charles. *Dellon's Account of the Inquisition at Goa*. Tr from the French. Hull: I Wilson Lowgate, 1812, PDF.

Derozio, Henry Louis Vivian. "To India - My Native Land". Web. 23 Feb 2017. https://www.poemhunter.com/poem/to-my-native-land/

Elmore, Pastor Don. "Protestantism Destroyed Part 1: Copied from the sermon notes of Pastor Don Elmore October 16, 2016", Web. 18 March 2017. http://fgcp.org/content/protestantism-destroyed-part-1.

Ferrao, Victor "The Other Orientalism and the Challenge and Opportunities for the Church in Goa", Web. 23 Jan 2017. http://www.nizgoenkar.org/newsDetails.php?id=7182 .

"The First European to Reach India by Sea: Vasco da Gama." Web. 10 June 2016. http://www.janson.no/spotlight/spotlight-details-1?Action=1&NewsId=23&M=NewsV2&PID=199

Gautier, Francois. “Will Hinduism Survive the Present Christian Offensive?” Web. 15 July 2016. http://www.stephen-knapp.com/christian_persecution_in_india.htm .

Gracias, Fatima da Silva. “The Impact of Portuguese Culture on Goa: A Myth or a Reality.” *Goa and Portugal: Their Cultural Links*. Charles J. Borges and Helmut Feldmann (eds). New Delhi: Concept, 1997, Print.

—. *Kaleidoscope of Women in Goa 1510-1961*. New Delhi: Concept, 1996, Print.

Haught, James A. *Holy Horrors: An Illustrated History of Religious Murder and Madness*. Amherst: Prometheus, 2002, Print.

Hobson Jobson: A Glossary of Anglo-Indian Colloquial Words and Phrases and of Kindred Terms, Etymological, Historical Geographical and Discursive. Ed. William Crooke. London: John Murray, 1902 [1886], PDF.

Hunter, William W. *The Imperial Gazetteer of India*. London: Trubner, 1886, PDF.

Kerrigan, Michael. *Dark History of the Catholic Church: Schisms, Wars, Inquisitions, Witch Hunts, Scandals, Corruption (Dark Histories)*. London: Amber, 2014, Kindle.

Kramer, Heinrich and James Sprenger. “The Malleus Maleficarum”, tr. Montague Summers, *The Operating Manual of the Holy Inquisition*, Pt. 2. Web 23 Feb 2017. http://www.cuttingedge.org/news/N1676b.cfm

Leupp, Gary P. *Interracial Intimacy in Japan: Western Men and Japanese Women, 1543-1900*. London: Continuum, 2003, Print.

Newman, Robert S. ”The Struggle for a Goan Identity”. *The Transformation of Goa*. Ed. Norman Dantas. Mapusa: Other India, 1999, Print.

Penrose, Boies. *Sea Fights in the East Indies in the Years 1602-1689*. Cambridge: Harvard U P, 1931, Print.

Prescot, William H. *History of the Reign of Ferdinand and Isabella*. Vol. I. New York: A L Burt, 1838. PDF.

Priolkar, Anant Kakba. *The Goa Inquisition, Being a Quarter Centenary Commemoration Study of the Inquisition in India.* New Delhi: Voice of India, 2016 [1961]. Print.

Rao, R.P. *Portuguese Rule in Goa*: 1510-1961. Bombay: Asia, 1963. Print.

Ravenstein, E. G. *A Journal of the First Voyage of Vasco Da Gama, 1497-1499.* London: Printed for the Hakluyt Society, 1898. PDF.

"Records Show Colonizers Were Not Done With Goa". *The Times of India*. Panaji. December 19, 2011. Retrieved January 6, 2016. http://timesofindia.indiatimes.com/city/goa/Records-show-colonizers-were-not-done-with-Goa/articleshow/11162999.cms

Ross, E. Denison. "The Portuguese in India". *Cambridge History of India: British India:1407-1858*. Vol V. np: PDF.

Russell-Wood, A. J. R. *The Portuguese Empire, 1415-1808: A World on the Move.* Baltimore: Johns Hopkins UP,1998 [1992]. Print.

Saksena, R. N. *Goa: Into the Mainstream.* New Delhi: Abhinav, 2003. Print.

Saraiva, António José. *The Marrano Factory: The Portuguese Inquisition and Its New Christians, 1536-1765*. Tr and augmented H P Salomon & I S D Sassoon. Ledan et al: Brill, 2001, PDF.

Salazar. *Keesing's Record of World Events*, Volume 8, March, 1962 India, Portugal, Indian, Page 18659 © 1931-2006 Keesing's Worldwide, LLChttp://web.stanford.edu/group/tomzgroup/pmwiki/uploads/1074-1962-03-KS-b-RCW.pdf

Silva, Severine and Stephen Fuchs. "The Marriage Customs of the Christians in South Canara, India." *Asian Folklore Studies*. Nanzan University (Japan) 1965: 1-52. Web. 12 Oct 2016. http://www.webcitation.org/query?url=http%3A%2F%2Fnirc.nanzan-u.ac.jp%2Fpublications%2Fafs%2Fpdf%2Fa173.pdf&date=2012-02-11

Sundaram, V. Web. 10 Oct 2016. http://blogs.ivarta.com/Inquisition-Goa-Atrocities-

Hindus-by-missionaries-II/blog-181.htm

Voltaire, *Oeuvres complètes de Voltaire*, Volume 5, Part 2, p. 1066, PDF.

Websites:

http://www.lydiafellowshipinternational.org/national-pages95263/india.php

http://www.worldheritageofportugueseorigin.com/2015/08/12/estado-portugues-da-india-portuguese-state-of-india/

Susheel Kumar Sharma, Professor of English, University of Allahabad, Allahabad 211002, M: 09450868483, 08173872609, susheelsharma.avap@gmail.com.

MY LANGUAGE, MY LORD!

Barriers of Language in the Province of Law and Justice

Dr. J.P. Mishra[1]

1. Language and the Man

It is believed that the language of man in ancient times was pictographic, that is to say, after he started expressing himself through gestures. When pictures became ineffective to express his emotions, man moved to other finer forms of pictures like letters. Letters used by modern man must have born out of those primitive letters used by ancient man. Unfortunately, barring a few claims by historians, we are yet to decipher the ancient scripts used by man in say Harappa or Indus Valley civilizations.

Even after man had evolved the letters and the language that we understand today, for example, Sanskrit, for several centuries man preserved the literature created by him through memory and passed it to next generations orally (the tradition of hearing and memory, the *shruti smriti parampara*)[2]. It took him several more centuries before he started writing on stones and leaves and parchment of trees and the like. Finally, with the technique that helped him prepare the paper, man succeeded in writing in a way which could be preserved for posterity.

Since we speak with the help of our tongue, therefore the tongue is the main tool for speech which is the foundation of language. This truth is reflected in the fact that tongue is used in the sense of language. The language that is most natural for man is often called his mother tongue, and the one which he uses as link language is *lingua franca*, and so son.

Through his mother tongue, man can communicate effortlessly, and most

1. Associate Professor, Department of Law, University of Allahabad, Allahabad.

2. Lord Krishna says: "I told this yoga *vidya* to Sun, Sun to Manu, and Manu to Ikshwaku. Thus obtained through tradition, parampara, this yoga was learnt by the Rishis, and declined with the passage of times."

powerfully. This is why two men find it easier to communicate to each other if they speak the same language than when they speak two different languages. Commonality of language often creates sympathy for each other, induces a sense of affinity for the other and, finally, leads to better understanding of each other paving the way for long lasting and sincere relations.

Moving a step further, a man is often also known by the language he speaks e.g. Hindi, Arabic, Persian, English, Russian, French, Japanese, German, Tamil, and Marathi et al. The use and understanding of one's language give man respectability among those speaking and using the language. The language then becomes a defining factor of one's sense of decency. This is why we often hear one say: his was the language of a gentle man, a rustic, a criminal, a saint, etc. In the larger sense, language becomes an inalienable element of one's personality.

Parliament which is the keeper of the conscience of the common man is also regarded as a place that maintains the decency of language even as the followers of various political ideologies present their own views on subjects of discussion, often showing bitterness and opposition towards the views of others. The moment they appear to cross the limits of propriety of language, they are warned by the Presiding Officer of the House not to repeat such objectionable language, and that portion of their speech is expunged from the proceedings. It is thus that when the word parliamentary is used with the word language, the former means proper or decent, e.g. 'He used a parliamentary Language'.

Finally, the surest way to come closer to one's heart is to know, use and speak his language. Language thus becomes a binding force in human relations. Knowing one's language means to a large extent knowing one's faith, ideals, literature, traditions, etc which combined together induce a sense of familiarity with the person whose language it is. The former who has endeavoured to know this language becomes worthy of love and respect of the former (whose mother tongue it is).

On the other hand, where one party does not know the language of the other, the communication is made often with the help of some interloculor or authentic translations of one language into other; thereby leaving a good scope of confusion, and misunderstanding. In extreme cases where one's language seems Greek and Latin to the other the former expresses his frustration, in the words of Ghalib :

"O Lord! Neither has he understood nor will he ever understand what I say. Either bless me with some other language or him with some other heart."

2. Man and the Law

Man has always lived under a law irrespective of whether he knew it or not. Although some philosphers would make us believe that there was no law in the beginning and only the might was right[1], yet the fact can hardly be denied that even then man was subject to certain laws of nature as is reflected in Aquinas' theory in the West or the philosophy of Sanatan Dharma in India. Aquinas felt that there is an eternal law to which the human frame has been subjected by some superhuman legislator[2]. The Lord of lords and the Nature are primordial; says Gita, adding that through His illusion, *maya*, the Almighty keeps moving all physical beings-which indeed includes all life forms in the Universe-in the same way in which some controls things placed over a machine.[3]

Under Indian philosophy man, is born, grows, ages and finally meets his end, all under the provisions of Dharma, the eternal law. All actions or inactions or specific actions are subject to this highest law.[4] It is not less interesting to note that under Sanatan Dharma, the will of the Sovereign.[5] On a practical plane, one's actions are often attributed to the cause-action principle. Jhering says: Every human conduct is governed by a 'because', that is purpose[6]. For example, we go to school becaus we want to study; we study because we want to get knowledge; and so on.

Man's actions are guided broadly by two sets of laws, namely, positive law, and moral laws. There is a number of scholars including Thomasius, Kant, and others who

1. Hobbes, *Elements of Law,* ed. F. Tonnies (Cambridge, Eng., 1928), pt. I, ch. Xiv. 2-5, as quoted by Edgar Bodenheimer, *Jurisprudence*, (Universal, 2011), ch. III, 10: *homo homini lupus* (each man is a wolf to every other man); *bellum omnium contra omnes* (everybody is at war with everybody else).
2. Aquinas, *Summa Theologia*, quoted by RWM Dias, Jurisprudence (Lexis nexis, 2013), p 472.
3. See, Bhagavadgita, ch. xiii-19; and ch. xviii-61.
4. Ibid, ch. iv-17, 18.
5. Law is the command of sovereign backed by sanctions : Austin.
6. See, Jhering, *Law as Means to an End*, quoted by RWM Dias, *Jurisprudence* (Lexis Nexis, 2013), p. 424 : "The stone does not fall in order to fall, but it must fall, but its support is taken away; whilst the man who acts does so, not because of anything but *in order* to attain to something."

feel that man's external conduct is governed by positive law (which they simply call law) whereas his internal conduct is regulated by morality[1]. Notwithstanding the fact that the naturalists would always advocate for the supermacy of morality over law (positive law, that is) and otherwise, there is no denying the fact that man's conduct is always governed by a law.

The point, however, has been driven home most forcibly by Ronald Dworkin, a great natural philosopher of the twentieth century when he says: "We live in, and by the law."[2] Law in fact has become not only an index of our development as a nation but also a vector of our social progress. The more we advance as a nation the more laws we make for regulating our activities in those newly occupied territories of human endeavour. Likewise, the more we progress as society the more laws we make to keep our conduct confined to the limits of decency and reason.

Law without exaggeration is the most reliable factor to characterise us as a society vic-a-vis other societies; and the foremost indicator of our status as a nation. It keeps a vigil on us each moment; and pervades us. Today, we cannot safely imagine a field of human action to be without law since in all probability the said field is either directly covered by law or indirectly so. For example, when we had no specific law on environment as such, the issues related thereto were taken care of in the light of relevant provisions of say, Indian Penal Code[3], Criminal Procedure Code[4], the Constitution of India[5], and the like.

the relation between man and the law bears a certain degree of reciprocity in that sometimes man changes the law while at others the law modifies the man's behaviour[6]. The first category consists of laws that we need with increasing pace of

1. See, Edgar Bodenheimer, *Jurisprudence* (Universal, 2011), p. 291. Theory initially igven by Thomasius was later developed by Kant; and is famously known as *Kantian Morality*.
2. See, Dworkin, *The Law's Empire*, The Perfect.
3. For examples Sections 268-290, IPC dealing with public nuisance were frequently resorted to in matters related to environmental pollution. So were the principles of nuisance, negligence, etc under law of tort.
4. Sections 133-34, 144, etc. of The Code of Criminal Procedure.
5. For example, Articles 14, 19, 21, 32, 48-A, 51-A(g), 226, etc. of the Constitution of India.
6. The legislation related to social justice is the result of social pressure, while the anti-suttee law is the efffort of the lawmaker to regulate social behaviour. Examples abound.

development as a nation; and the second when the law takes the social evils head on and tries to eradicate them. Thus not only the individual but also the social and national life of man now stands pervaded by law.

Now, it appears that man and law are made for each other; and to a great extent, it is really so with, however, but one rider, that is, the law is made for man and not the vice versa. Hence while the relation of man and law is very deep, we have not to lose sight of the fact that the first and foremost role of law is to serve the interest of man in all its forms. It is thus that the law even if technically sound stands the risk of becming obsolete when it is found failing in its singular duty, namely, the protection of human interests.

3. Language of Law

The language of law, to say the least, is the language of common man. This, however, is easier said than understood. For the purpose of law, a common man is a man of average prudence and, above all, a man of reason. Hence this common man is otherwise also known as the reasonable man. A common man who will henceforth be referred to as reasonable man is one who knows and obeys all law. Conversely, what he does or does not do (that is, abstains from doing) is perfectly lawful. It is thus that we often say the law is but the common sense codified. Needless to say, the word 'common sense' here stands for the 'sense of common or reasonable man'.

Reasonable man is more ideal than real. He provides all standards of lawful behaviour through his own conduct in varying sets of situations; at least this is what the law shall always presume. If one's conduct either oversteps or falls short of that of a reasonable man in a particular set of circumstances, he is likely to be punished[1].

The jurisprudents have forced ordinary mortals to step into the shoes of the reasonable man. Since the reasonable man knows all law, they would argue, everyone else also ought to; meaning thereby that such a one cannot plead ignorance of law as a defence. Now, knowing how tough it it is for one to know even one piece of legislation correctly, it may be easily appreciated how practically impossible it would be for one to know all law. Alternately, it is like asking for the impossible from a human mind that it

1. See Ss 96-106, IPC, related to defence of person and property.

must of necessity understand the nuances of all law.

The irony is that the language of law is all but understandable to common man. It takes honourable judges several years and, sometimes, decades to decipher true meaning of words law uses. In a country like ours where a majority of people does not know even its dialects correctly, the proceedings of a court of law are conducted either in the language of the State or in English.[1] This is not to suggest that proceedings be started with the help of one's dialect but simply to remind ourselves that it would be grave injustic to common man if his conduct were examined in the light of law the words whereof he does not know or through a procedure the language whereof he does not appreciate.

While talking of an ideal man it is equally essential to think of a real man. It is irony of the modern law that even after he has served the punishment awarded to him, a 'convict' often does not know the crime which, according to the verdict of the Court, he had once committed. This has resulted into a situation where those who do not know either the law or the procedure meekly submit before the verdict of the Court whereas the ones knowing the law and procedure both try to go scot-free by exhausting all possible chances of appeal or review made available by the law.

4. Law and Justice

Law is the standard by which we measure the correctness or otherwise of one's conduct. This job is specifically assigned by the Constitution to a court of law. This means that only a court of law can say whether one's conduct is in accordance with law or not. In order to avoid the awkward situation of one and the same matter between the same parties being fought at more than one court at a time, there is distinct division of jurisdictions for courts at each level: district and States, besides the apex Court whose jurisdiction extends to the entire territory of India. In case of the apex Cour, if it comes to the notice of the Court that several cases involving the same point of law are pending in different High Courts, it can transfer all such cases to itself; and may either finally dispose of the case or decide only the legal point involved and send back the case to the

1. Article 348 provides that all proceedings in the Supreme Court and High Courts and all laws to be made by Parliament and State legislatures shall be in English. In a State, Hindi or any other language may also be used for the proceedings or legislations, but High Courts are not obliged to use such languages other than English in their judgment, decree or order passed by them.

respective High Court to dispose of the case.[1] A similar provision is there for High Court in respect of cases pending in different courts under their jurisdiction in case they involve a common subject matter to be decided.[2] Also, several principles of law have been developed to prohibit wrongful prosecution, misuse of the procedure of a court of law, and to decide a matter already decided (res judicata); besides a number of other safeguards provided under the Constitution[3].

The goddess of justice is shown blind-folded to convey the message that justice is administered strictly in the light of law. In other words, this goddess is, so goes the metaphor, blind to any other factor related to a case, namely, who the aggrieved or what the people's perception about the aggrieved is, etc. Thus everybody is equal before her in the sense that he ought to behave according to law, failing which he shall be punished. In the constitutional law, we read such notions as 'equality before law' or 'equal protection of laws' to assert that the protection of law is equally available to one and all since each one is equal to other sin the eys of law[4].

Justice is administered in the light of law applicable to the case at hand. In the absence of law, the courts go for customs or traditions prevalent among the communities to which the parties belong. In Britain, we know, such practices resulted into what we term as Common Law Courts whereas the courts which later came into existence following the rules of equity were called Equity Courts. Sometimes, the courts seek guidance from judgements of higher courts which we call judicial precedent and which too acts as law in appropriate cases[5]. The point is almost undeniably true that some or the other form of law is a prerequisite of justice. The Constitution of India defines 'law' under Article 13 :

13(3) In this article, unless the context otherwise requires:-

1. See, Article 139-A (Power of the Supreme Court), ibid.
2. See, Article 228 (Power of the High Court), ibid.
3. For example, Articles 20, 21 and 22 in particular, besides other fundamental rights.
4. Article 14 of the Constitution : "State shall not deny to any person equality before the law or the euqal protection of the laws within the territory of India."
5. This is based on the maxim *stare decisis* meaning preserve what has been decided.

(a) "law" includes any Ordinance, order, bye-law, rule, regulation, notification, custom or usage having in the territory of India the force of law;

.....

Since law is the deciding factor for justice, it automatically implies that a sound law will produce a sound justice whereas a not so good law may lead to injustice. A society is also evaluated according to the law that governs it: a developed society has a sounder law than what a developing society has. This may be explained in other way also by saing that since the law takes care of man's actions or inactions in various fields of endeavour, a dynamic society will certainly have laws governing man's actions in those diverse fields of activity while a static society may have limited spheres of its activity and hence the laws limited to those few traditional fields. Thus law is an index of social awareness and growth.

The law that we talk of is often taken to be law that is distinct from morality. Although it is true that the legal discourse has its origin in the treasures of morality of which natural law philosophy is an off-shoot, yet the later schools which were born out of a reaction to natural law philosophy abhor morality. Extremists like Austin go to the extent of saying that morality must be banished from the province of jurisprudence; but more lenient positivists like Hart admit that law cannot have any content and that it should have some shared morality: human vulnerability, limited resources, limited altruism, approximate equality of persons, and limited understanding.[1]

A good law therefore must have certain desiderata. Fuller sees them as intelligibility, generality, prospectivity, reasonableness, possiblity of obeisance, un-self-contradictoriness, constancy through time, and congruence with official action. He regards these characteristics as the ingredients of inner morality; in contradistinction to what he termed as external morality-the lofty ideals that law aims to achieve.[2]

In our ancient legal system in India, Dharma was the ultimate law for one and all which was, for the more part, couched in moral words. Dharma is a holistic concept which takes care of everything everywhere and at every time. That overarching nature

1. See, Dias, op cit. p. 493.
2. Ibid, p. 492.

one cannot find in religion which is confined to certain activitie of human beings.

At present India is not governed by either the supreme law, or dharma, or any religion; but by her Constitution which is the law of the land and to which every other law, be it in whatever form, has to subscribe. Though we are still not in a position to deny that the morality reigns where law can be of little effect; we mean only statute law when we use the term 'law'. Morality governs our inner world whereas law does the outer world. Taken together statute law and moral law complete the picture of the law of which Dworkin says: 'we live in, and by, the law'. Morality governs our inner world whereas law does the outer world. Taken together statute law and moral law complete the picture of the law of which Dworkin says: 'we live in, and by, the law'. Thus the man is always subject to the dictates of law or, as those like Dicey would say, he is under the rule of law.

However, the truth needs to be reiterated that all law is made for man. The end of law is to see man in his most sublime form. It aims at helping the man to be his best. This is why the soundest Interpretation of law should always be in the interest of man. It certainly does not mean that such an interpretation must of necessity result in monetary benefits or physical comfort for him. On the contrary, it may be painful for him for example when he is sentenced to a term of imprisonment or to death; but even then the notion of justice makes us believe that such a jail term or capital punishment is adjudged to be in his own interest keeping in view the nature of offence committed by him and the law on the point. This is probably why the sentence is 'awarded' no matter how bitter its consequences might be. Justice without law then is to be regarded as nothing but miscarriage of justice. If law provides a basis to the justice; the justice in turn acdords meaning and sanctity to the law.

5. Language of the Court

Even today, in essence, the language of the Supreme Court and High Courts is English. In famous case of *Madhu Limaye v. Ved Murti*, request of one of the interveners, who insisted on speaking to the apex Court in Hindi, was rejected because the *language of the Court was English*.[1]

1. AIR 1971 Sc 2481.

It is a matter of common experience that the words create their impact on our minds and hearts to a degree that is proportional to our undersanding of the words in question. This is so because it is the signals emanating from the brain that leave the impact on us like pain and agony, joy and happiness, or love and hatred in a particular case.

Therefore it can be safely said that there is a halo of each word, courtesy Hart[1], having the umbra and penumbra of its various meanings-settled as also unsettled-which are imaged on one's mind and the after-effect whereof is received later by our body or a part of the body, say, heart. Needless to say, the impression of the most popular of familiar meaning of the word happens to be the strongest and long lasting.

Since the judge speaks in the language which more often than not happens to be Greek and Latin to the parties, he is far from successful in conveying his ideas to the parties concerned about their rights. The parties in turn are at their wit's ends thinking how to put their version of things in a way that makes the judge appreciate the complexities of the case at hand. It is an irony that one whose rights are at stake is not in a position to present his case in a language that he understands, and can express himself in the best. Thus he is reduced to a mute spectator of the proceddings remaining preplexed as to which way they will go.

It is thus that the justice that it administered to him by the court in language foreign to him falls short of convincing him as to either its accuracy or relevance. He has nothing fall back upon but his desitny and the God's will. He is thus forced to accept, in most of the cases, whatever he gets in the name of justice. Very few, if at all, muster the courage to prefer an appeal because despite the financial aspects related to litigations, there is the crisis of language deepening more and more as we move to higher judiciary[2].

This is not to suggest that the justice delivery system is throughly inefficient or that it has always worked to the dissatisfaction of the litigants; but to drive the point home that there is a good possiblity that the justice that is administered sometimes appears only partly just or, whose, fairly unjust to the parties. Sometimes this impression

1. See, Dias, op. cit. p. 352: he (Hart) subscribes to the view that a word possesses not a 'proper meaning', but an inner 'core' of agreed applications surrounded by a 'fringe' of unsettled applications.
2. See, f. n. 16, *supra*, related to Article 348.

may be created due to the use of a language by the court which the litigant seldom understands:

Says the Judge, looking through his nose,
Most clearly but very severely,
Law is as you know I suppose.
Law is as I have told you before,
But let me explain you once more,
'Law is the law'.[1]

6. Translated Justice

In such a scenario, as stated above poetically, the litigant looks askance and has nobody but his lawyer to turn to. Right from the beginning of the proceedings the accused stands in the need of a translated text of say, the charges against him, the law concerned, the purported evidences, etc. At the other extreme is the language that he knows and through which alone can he express himself. Whatever he asserts has to be communicated with the help of his lawyer to the judge who is to decide the case. The situation is most tragic when during the cross examination the questions put up to the accused are not perfectly appreciated by him and the answer presented by him more often than not create an impression in the mind of the judge which is furthest removed from the reality.

Legal History tells us that in the famous Nand Kumar's trial, the accused could not fully understand the questions posed to him in English since his mother tongue was Bengali; and it is felt by most of the observers that was a principal reason of the verdict going against Nand Kumar, the accused[2].

The realists like Gray and Holmes would make us believe that laws are there to befool the common man since the justice comes not so much in the light of law but out

1. W.H. Auden in "Law Like Love". This poem is reproduced on the basis of memory. Therefore some words or sequences thereof may not be exactly as they are found in the original. The intention here is to roughtly convey the fact that even after much is said and done in the name of law in the courts, the law is never more than an illusion for the aggrieved in most of the cases.
2. See, M.P. Jain, *Indian Legal History* (Tripathi, Bombay): and V.D. Kulshrestha, *Landmarks in Indian Legal History* (EBC, Lucknow).

of the judge's conviction of what the law is. "Law is what a judge says" declares Gray trying to give an impression that judge's mind and understanding are central to the administration of justice. Even the followers of other schools of law admit that there is a grain of truth in what realists say though they exaggerate it to some degree. Be it as it may, the fact can hardly be denied that if the accused has failed to make the judge understand his case fully, he has only half chance of getting justice if at all he has.

Same is the situation with the accused who gets the verdict translated by his counsel and is not fully convinced by this 'translated' justice since the barriers of language come in the way of communication and fail to evoke a response which they would have if they were expressed in the language best known to the accused. As to the translation of a thing from one language to the other, it is indisputable that with each translation we move farther from the original expression thereby diminishing the chances of natural impression in the mind of the ultimate receiver, in this case the accused.

7. Conclusion/Suggestions

The Constitution emphasises that the Central government should make all out efforts to promote the use of Hindi language[1] and script after declaring that Hindi in Devanagari Script should be the language of the nation.[2] The Constitution provides a reasonable space to all regional languages one or more of which are spoken by the people in a state.[3] It makes sufficient concessions for use of more than one language officially in a state; provides them an option to make any language their language of official communication. Not only this, the Constitution also takes care of the language of minorities in a state.

Through fundamental rights also, the Constitution guarantees us the right to choose our language and preserve it for our welfare. Sometimes, it is done by ensuring

1. Article 351, ibid.
2. Article 343, ibid.
3. Articles 345-7, ibid. Article 345 empowers trhe states to adopt Hindi or a regional language for official use; Article 346 states that two or more states to choose Hindi as the language for their official communication; and Article 347 provides that the President on demand may direct a state that a language spoken by a section of people in that state should also be officially recognized throughout the state or any part thereof for certain specified purposes.

the freedom of expression which alternately means ensuring one's right to choose one's own language since it there that he can express himself the best.[1] However, explicitly it guarantees one's right to preserve one's own culture, language and script.[2] Thus it seems that Constitution is very much alive to the fundamental role of language in expression and communication of thoughts.

However, the picture of language on the real plane is not as rosy as it seems to be. As has been pointed at the outset, the literacy rate in the states as also overall illiteracy rate leaves us much to ponder. It also concerns us that so long as the common man does not get the strength of language and expression, he cannot either appreciate his rights and duties nor can he fight meaningfully for these.

In the light of above, the only suggestion that may be forwarded is, sincere efforts should be made to literate the real average person, not in a notional but also legal sense; and laws simpler.

*****

1. Article 19(1)(a)
2. Article 29, Ibid.

प्रजातंत्र का आधार : आर्थिक विकेन्द्रीकरण

डॉ0 इन्दुशेखर तत्पुरुष[1]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय प्रचलित अर्थों में अर्थशास्त्री नहीं थे। वे भारतीय कृषि परंपरा के ऐसे आधुनिक चिंतक हैं जिन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के विविध आयामों पर मूलगामी विचार करते हुए देश को एक नई दिशा प्रदान की। वे महात्मा गांधी की तरह समाज-रचना पर विचार करते हैं, राजनीति पर विचार करते हैं, धर्म-संस्कृति पर विचार करते हैं, अर्थनीति पर विचार करते हैं। वे हर अधिष्ठान पर इस भाव से विचार करते हैं कि जो तत्व भारतीयता को अक्षुण्ण रख सकता हो उसका अंगीकार और जो तत्व भारत को इसकी पहचान को मिटाकर पश्चिम का या अन्य किसी देश का अंधानुयायी बनाता हो उसका प्रतिकार। दीनदयाल जी उस दृष्टि का भी प्रतिषेध करते हैं जो भारत को पीछे की ओर लौटाती हो। उनका स्पष्ट मत है कि, ''हम भारत को न तो किसी पुराने समय की प्रतिच्छाया बनाना चाहते हैं और न रूस या अमेरिका की अनुकृति।'[2]

भारतीय मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए दीनदयाल जी ने 'अर्थायाम' पर चिंतन किया और इस संदर्भ में यथावसर जिन महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख उन्होंने किया है उन पर दृष्टिपात करना यहाँ प्रसंगोचित होगा। वे कहते हैं कि, ''हमें स्वीकार करना होगा कि भारत की आर्थिक प्रगति का रास्ता मशीन का रास्ता नहीं है। कुटीर उद्योगों को भारतीय अर्थनीति का आधार मानकर विकेंद्रित अर्थव्यवस्था का विकास करने से ही देश की आर्थिक प्रगति संभव है।''[3]

''केन्द्रीय व्यवस्थाएँ मानव को मानव न मानकर उसके एक 'टाइप' के साथ व्यवहार करती हैं। इनमें मानव की विविधताओं और विशेषताओं के लिए कोई स्थान नहीं। फलतः वे उसे ऊँचा उठाने के स्थान पर एक मशीन का पुर्जा' मात्र बना देती है। उसका अपना व्यक्तित्व मर जाता है। अतः विकेंद्रीकरण ही हमारी संस्कृति के अनुकूल है।''[4]

हम देखते हैं कि दीनदयाल जी मूल रूप से विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के पक्षधर हैं। प्रश्न उठता है कि भूमंडलीकरण और वैश्विक बाजार व्यवस्था के इस प्रचण्ड समय में जहाँ सारी अर्थव्यवस्थाएँ वृहत्तर

1. 6-ए, विश्वकर्मा नगर तृतीय, महारानी फार्म, दुर्गापुरा, जयपुर-18

2. आधुनिक भारत के निर्माता : पण्डित दीनदयाल उपाध्याय-डॉ0 महेश चंद्र शर्मा, पृष्ठ सं. 123

3. पूर्वोक्त, पृष्ठ सं. 50

4. राष्ट्रचिंतन : पं0 दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ सं. 93

सत्ताकेंद्रों से संचालित हो रही हों, वहाँ विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का क्या अर्थ है? दीनदयाल जी कहते हैं कि विकेन्द्रीकरण हमारी संस्कृति के अनुकूल है; तो क्या दीनदयाल जी के लिए यह प्रश्न मात्र संस्कृति की रक्षा का प्रश्न है अथवा किसी वृहत्तर मानवीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे ऐसा कहते हैं? वस्तुतः दीनदयाल जी यहाँ जिस संस्कृति की बात करते हैं यह वही भारतीय संस्कृति है जो मनुष्यमात्र की सत्ता और अस्मिता का सम्मान कर उसे स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान करती है। वे महसूस करते हैं कि आर्थिक केन्द्रीकरण मनुष्य की विविधताओं को नष्ट कर राज्य व्यवस्था को अधिनायकवाद की ओर ले जाता है। यह मनुष्य के लोकतांत्रिक स्वभाव के प्रतिकूल है, चाहे लोकतंत्र की आड़ में ही क्यों न किया गया हो। एक अन्य स्थान पर दीनदयाल जी आर्थिक विकेन्द्रीकरण को हमारी स्वतंत्रता से जोड़ते हुए एक महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत करते हैं :

''आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता समाप्त हुई तो राजनीतिक क्षेत्र में भी समाप्त हो जाती है। समाजवाद और प्रजातंत्र साथ-साथ नहीं चल सकते। सच्चे प्रजातंत्र का आधार आर्थिक विकेंद्रीकरण ही हो सकता है। अतः सिद्धांततः हमें छोटे-छोटे उद्योगों को ही अपनाना चाहिए।''[1]

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि दीनदयाल जी आर्थिक स्वतंत्रता को क्यों इतना महत्व देते हैं और आर्थिक स्वतंत्रता को निगल जाने वाली व्यवस्था, समाजवाद का प्रतिषेध क्यों करते हैं। वे निर्विवाद रूप से यह मानते हैं कि मनुष्य की आर्थिक, स्वतंत्रता समाप्त हो जाने पर उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता भी समाप्त हो जाती है और यह आर्थिक स्वतंत्रता आर्थिक विकेन्द्रीकरण के द्वारा ही संभव है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण लघु-कुटीर उद्योगों से ही पनपता है। इस प्रकार दीनदयाल जी विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को हमारी स्वतंत्रता के ही एक आयाम के रूप में देखते हैं। वे यह भी देखते हैं कि केन्द्रीकृत व्यवस्थाएं जिस व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बात करती है वह समाज के शिखर स्तर के व्यक्ति की स्वतंत्रता को ही सुनिश्चित करती है न कि समाज के निचले पायदानों पर खड़े सर्वसाधारण नागरिक की स्वतंत्रता को। इसीलिए वे एक टिप्पणी करते हैं कि, ''व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वप्रथम है। जब टाटा-बिरला, व्यक्ति-स्वातंत्र्य मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है, उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों-करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों-करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता का विचार करना है। शक्ति चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, केंद्रीकरण से व्यक्ति-स्वातंत्र्य समाप्त हो जाता है।''[2]

दीनदयाल जी जब आर्थिक स्वतंत्रता की बात करते हैं तो वे इस ओर भी सजग और सावधान रहते हैं कि यह स्वतंत्रता अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति तक को शामिल कर पाती है अथवा शीर्षस्थ लोगों (Creamy Layer) को ही छूकर निकल जाती है।

5. राष्ट्रचिंतन : पं0 दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ सं. 80
6. राष्ट्रचिंतन : पं0 दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ सं. 78

केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था उपभोग की अधिकतम सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमशक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी आदि पर निर्भर है, जबकि विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था उपभोग की न्यूनतम सीमा, स्थानीय आदान-प्रदान, स्थानीय प्रतिस्पर्धा, स्थानीय श्रमशक्ति, स्थानीय पूँजी आदि पर निर्भर है। केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था में होने वाला शोषण भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संपन्न होता है जिसका निदान किसी भी शोषित देश के हाथ में नहीं रहता और दुर्बल अथवा अविकसित देश सबल अथवा विकसित देश द्वारा अनिवार्यतः शोषण का शिकार होता है। जबकि विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था में होने वाला शोषण भी स्थानीय स्तर पर ही होता है और जिसका निदान अनिवार्यतः उस देश अथवा राज्य के हाथ में ही रहता है। बड़े एवं भारी भरकम उद्योग विदेशी पूँजी, विदेशी निवेश, विदेशी तकनीकी, विदेशी श्रमशक्ति, विदेशी लाभांश पर निर्भर होते हैं। यह सच है कि केन्द्रीय अर्थव्यवस्था हमारे श्रेष्ठिवर्ग के भौतिक स्तर को एकाएक उन्नत कर उनके जीवन स्तर को आश्चर्यजनक रूप से ऊपर उठा सकती है किंतु सर्वसाधारण के आर्थिक स्तर की घोर उपेक्षा करती है।

दीनदयाल जी कहते हैं कि केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था मनुष्य को मशीन का एक पुर्जा मात्र बना देती है, उसका व्यक्तित्व मर जाता है। यह एक प्रकार से आर्थिक गतिशीलता में सामान्यजन की भागीदारी का न्यूनतम हो जाना है। यह स्थिति समुदाय को बहुत तेजी से बेरोजगारी की ओर ढकेलती है। इसलिए वे ऐसी व्यवस्था अपनाने पर बल देते हैं जो भारी उद्योगों के स्थान पर लघु उद्योगों को बढ़ावा दे और प्रत्येक नागरिक के लिए रोजगार के अवसर सुनिश्चित करें। इसका यह भी फलितार्थ है कि उनके मत में ऊँची-ऊँची गगनचुंबी अट्टालिकाओं, चमचमाती सड़कों और रोशनी में नहाये शहरों के सहोत्पाद (By Product) के रूप में यदि खेतों का सिकुड़ते जाना, गाँवों का विलुप्त होना, प्राकृतिक संसाधनों का निर्मम शोषण होना, झुग्गी बस्तियों का बनना, श्रमविहीन मनुष्यों का बढ़ते जाना आदि रूप में परिलक्षित होता हो तो वह व्यवस्था भारतीय संस्कृति के अनुकूल कदापि नहीं हो सकती। वह देश को अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस या चीन की अनुकृति तो बना सकती है, पर भारत को मौलिक भारत से बहुत दूर ले जाती है। यह व्यवस्था एक अलोकतांत्रिक, असमान और वर्गभेदपूर्ण समाज को जन्म देती है।

जो अर्थव्यवस्था समाज में अनियंत्रित बेरोजगारी उत्पन्न करती है वह अनुचित ओर अनुपयोगी अर्थव्यवस्था है। दीनदयाल जी कहते हैं हर हाथ को काम मिले यह राज्य का उत्तरदायित्व है। वह ऐसी अर्थनीति लागू करे कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्यावसर उपलब्ध हो। उत्पादन बढ़ा देने की कीमत पर कार्यावसरों को छीनने वाली व्यवस्था न केवल असंतोष को जन्म देती है वरन् वह असमानता, भ्रष्टाचार, भेदभाव व अराजकता की जननी होती है, इसलिए वे श्रम के अधिकार की पक्षधरता करते हैं। उनके अनुसार, ''श्रम का अधिकार (Right to Work) मनुष्य का संवैधानिक अधिकार है। राज्य का यह पहला कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता व क्षमता के अनुसार काम करने का अवसर दे। इन अवसरों में किसी प्रकार का भेदभाव, जाति, रंग और लिंग के आधार पर नहीं होना चाहिए। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की जो भी योजना बनाई जाए उसका

उद्देश्य सभी व्यक्तियों को काम दिलाना होना चाहिए (Full Employment)।''[1]

दीनदयाल जी जब 'श्रम के अधिकार' की वकालत करते हैं तो वे मात्र अर्थशास्त्री या मानवाधिकारवादी कार्यकर्ता के नाते यह बात नहीं कहते, वे मानवीय व्यक्तित्व की समग्रता को दृष्टिगत कर एक तत्वचिंतक की भांति बात करते हैं, जो कि मनुष्य को एकात्म भाव से देखने पर प्रतिफलित होती है। वे कहते हैं कि, ''मानव को पेट और हाथ दोनों मिले हैं। यदि हाथों को काम न मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो मनुष्य सुखी नहीं रहेगा, उसका विकास नहीं होगा। निःसंतान स्त्री जैसे अपने जीवन में अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करती है, वैसे बेकार, पुरुषार्थ रहित व्यक्ति अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करता है।'[2]

आर्थिक विकास को मापने का जो प्रतिमान दीनदयाल जी बताते हैं वह एक सच्ची मानवीय संवेदनापूर्ण दृष्टि के बिना संभव नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि, ''आर्थिक योजनाओं तथा प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पहुँचे व्यक्ति से नहीं, बल्कि सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा। आज देश में ऐसे करोड़ों मानव हैं, जो मानव के किसी भी अधिकार-का उपभोग नहीं कर पाते। ..... हमारी भावना और सिद्धांत है कि वह मैले-कुचैले, अनपढ़, मूर्ख लोग हमारे नारायण हैं। हमें इनकी पूजा करनी है। यह हमारा सामाजिक एवं मानव धर्म है। जिस दिन इनको पक्के, सुंदर, स्वच्छ घर बनाकर देंगे, जिस दिन हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन-दर्शन का ज्ञान देंगे, जिस दिन हम इनके हाथ और पाँव की बिवाइयों को भरेंगे और जिस दिन इनको उद्योगों और धंधों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊँचा उठा देंगे, उस दिन हमारा भ्रातृभाव व्यक्त होगा।'[3]

यह है दीनदयाल जी का सर्वजनकल्याणकारी, सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय, दरिद्र को नारायण मानकर उसकी सेवा का दरिद्रनारायण दर्शन अर्थात एकात्म मानवदर्शन।

विकेन्द्रीकृत अर्थनीति के व्यावहारिक स्वरूप को समझने की दृष्टि से दीनदयाल जी की एक टिप्पणी दृष्टव्य है, ''हमारे विकास-कार्यों को पूँजी पर कम, और श्रम पर अधिक निर्भर होना चाहिए। ..... हमें छोटी बाँध-योजनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए था। उसमें कम खर्च होता, अधिक गति से उपयोग होता और निश्चय ही वे जल्दी भी सम्पन्न होती तथा अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता। ..... हम बहुत सारे भवन बनवा रहे हैं और हम उन्हें पूरे का पूरा सीमेण्ट से बनवाते हैं। हम स्थानीय रूप से तैयार की गयी ईंटों का उपयोग क्यों नहीं कर सकते? उससे न केवल सीमेण्ट के परिवहन का रेलवे पर पड़ रहा दबाव घट जाता, बल्कि स्थानीय विकेन्द्रीकृत ईट-भट्टा-उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलता।''[4]

1. आधुनिक भारत के निर्माता : पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, डॉ0 महेश चंद्र शर्मा, पृष्ठ सं. 85
2. एकात्म मानववाद : विवेचन, सिद्धांत एवं तत्व मीमांसा, ज्ञानगंगा प्रकाशन, पृष्ठ सं. 95
3. मैं दीनदयाल उपाध्याय बोल रहा हूँ, संपादक - अमरजीत सिंह, प्रभात प्रकाशन, पृष्ठ सं. 57
4. पॉलिटिकल डायरी, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 12, 13

अर्थायाम की व्यावहारिक निष्पत्ति हेतु दीनदयाल जी ''आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य'' की बात भी करते हैं। यहाँ प्रचलित अर्थनीति को संयम और सादगीपूर्ण भारतीय जीवन मूल्यों से ओतप्रोत करना ही आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। दीनदयाल जी देखते हैं कि वर्तमान अर्थनीति समाज में एक ओर अमीर-गरीब की खाई को बढ़ाती जा रही है तो दूसरी ओर बेरोजगारी की अनियंत्रित भीड़ को उत्पन्न कर रही है। इस पूँजीवादी दुर्नीति से उपजा असंतोष प्रायः वर्गसंघर्ष को प्रतिष्ठापित करने की भूमि का निर्माण करता है। वर्ग संघर्ष की यह भूमिका समाज को मार्क्सवाद जैसे अधिनायकवादी तंत्र की ओर धकेलने का पुख्ता आधार प्रदान करती है जो कि एक और भीषण दुरवस्था है। दीनदयाल जी इस ओर असावधान नहीं हैं और वे इसका हल आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य के द्वारा देखते हैं। वे कहते हैं कि, ''भारतीय मतवाद जब वर्गसंघर्ष का खंडन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियंत्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग की बजाय न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्राकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। इसमें ही तीनों का संतुलन है।''[1]

दीनदयाल जी के अनुसार अधिक उत्पादन-समान वितरण-संयमित उपभोग इस तिपाई पर अर्थव्यवस्था को टिकाना ही ''आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य'' है। इसमें यह बात भी स्पष्ट है कि भारतीय चिंतन के अनुसार उपभोग को न्यूनतम किए बिना वर्ग-संघर्ष का खंडन नहीं किया जा सकता। हाँ, उसका भ्रम अवश्य पैदा किया जा सकता है। निश्चय ही इस सांस्कृतिक कार्य के लिए समाज में समुचित शिक्षा और संस्कार की आवश्यकता होगी।

दीनदयाल जी की ही शब्दावली में कहें तो इसके लिए पुनः ''समाज और राज्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य'' की आवश्यकता होगी। सौभाग्य से इसका समाधान भी दीनदयाल जी स्वयमेव हैं। वे स्वयं को भी राजनीति के क्षेत्र में संस्कृति का प्रतिनिधि मानते थे।

यहाँ यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि दीनदयाल जी जब भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो वे भारत को किसी पुरातन युग की ओर लौटाना नहीं चाहते। वे एक सतत गतिशील और विकासमान राष्ट्र की अर्थनीति का प्रस्ताव करते हैं। इस तथ्य पर बलाधान की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि पूर्वाग्रह अथवा नासमझी के कारण बहुधा यह भ्रम पैदा किया जाता रहा है कि दीनदयाल जी भारत के पुरातन अतएव कालबाह्य और पिछड़े हुए मॉडल के प्रवक्ता हैं। तथ्य यह है कि दीनदयाल जी स्पष्ट शब्दों में संस्कृति के संरक्षण की ही नहीं अपितु उसको सजीव और सक्षम बनाने की बात कहते हैं। वे पुरानी रूढ़ियों को समाप्त करने और उनमें बहुत से सुधार करने की बात कहते हैं।

दीनदयाल जी के विचारों के साथ यहाँ यह इसलिए भी दुर्घटित होता है कि अनेक भावुक संस्कृति-

1. आधुनिक भारत के निर्माता : पण्डित दीनदयाल उपाध्याय - डा. महेश चन्द शर्मा, पृष्ठ सं. 87

भक्त परम्परा के सड़े-गले अंश और अर्थहीन रूढ़ियों को भी संस्कृति के नाम पर छाती से चिपकाये रहते हैं। जबकि दीनदयाल जी ने अपने विचार और कार्य में ऐसे एकपक्षीय विचारकों से अत्यंत सजगतापूर्वक दूरी बनाये रखी। उनके अनुसार 'मानव का विकास' और 'राष्ट्र की एकात्मता', ये दो अपरिहार्य मापदंड हैं जिन पर खरा उतरते हुए हमें भारत का नीतिपथ सुनिश्चित करना है। जो नीति इन दोनों आधारों के लिए पोषक सिद्ध हो वह स्वीकार्य और जो इनके लिए बाधक हो वह अस्वीकार्य। इसका तात्पर्य है कि कोई भी व्यवस्था जो मानव के विकास के लिए उपयोगी हो किन्तु राष्ट्र की एकात्मता को खण्डित करती हो अथवा कोई व्यवस्था जो राष्ट्र की एकात्मता के लिए उपयोगी हो किन्तु मानव के विकास को अवरुद्ध करती हो तो, ये दोनों ही स्थितियां अभिप्रेत नहीं है। उनका मूल कथन इस प्रकार है-

''हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है। उसके आधार पर राष्ट्र की धारणा हो और हमारा समाज स्वस्थ एवं विकासोन्मुख जीवन व्यतीत कर सके, इसकी व्यवस्था करनी है। इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियां खत्म करनी होंगी, बहुत से सुधार करने होंगे। जो हमारे मानव्य का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो, वह हम करेंगे और जो बाधक हो उसे हटायेंगे।''[1]

वस्तुतः यह उनके व्यष्टि और समष्टि को एकात्मक रूप में देखने का फलितार्थ है और इसलिए पुरातन और आधुनिक, देशी और विदेशी, व्यक्तिपरक और समाजपरक, अपनाने योग्य और त्यागने योग्य आदि द्वन्द्वों के व्यामोह से निकलने का जो सूत्र वे बताते हैं वह मार्गदर्शी सिद्धांत की तरह बारम्बार स्मरणीय है। दीनदयाल जी कहते हैं कि, ''जहाँ तक शाश्वत सिद्धांतों तथा स्थायी सत्यों का संबंध है, हम संपूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें। इन तत्वों में जो हमारा है, उसे युगाकूल और जो बाहर का है, उसे देशानुकूल ढालकर हम आगे चलने का विचार करें।''[2]

अतः हम कह सकते हैं कि दीनदयाल जी भारतीय संस्कृति के प्राचीन शाश्वत तत्वों के अधिष्ठान पर वर्त्तमान देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप भारत के नव निर्माण के शिल्पी थे।

*****

1. एकात्म मानववाद : दीनदयाल उपाध्याय, प्रकाशक - भाजपा, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 66
2. एकात्म मानववाद : विवेचन, सिद्धांत एवं तत्व मीमांसा, ज्ञानगंगा प्रकाशन, पृष्ठ सं. 55

एकात्म मानववाद और भारतीय कृषि

प्रो. आद्या प्रसाद पाण्डेय[1]
अनिल कुमार[2]

आर्थिक समीक्षा 2010-11 के अनुसार हमारे राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान 14% तथा 2001 की जनगणना के अनुसार कुल रोजगार में इस क्षेत्र का हिस्सा 58% था। कुल निर्यात में कृषि निर्यात का प्रतिशत 2009-10 में 10.5% रहा।

भारतीय कृषि हमारी अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय उत्पाद का बहुत बड़ा भाग कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है। कृषि का समुचित विकास करके वर्तमान में देश में रोजगार को बढ़ाया जा सकता है तथा उच्च आर्थिक विकास को पाया जा सकता है, परन्तु वर्तमान में कृषि के समक्ष बहुत सी समस्याएँ एवं चुनौतियाँ हैं; जैसे सिंचाई की समस्या, उर्वरक की समस्या, बिजली की समस्या, सब्सिडी की समस्या, कृषि उपज के मूल्य निर्धारण की समस्या। इन समस्याओं को दूर किए बिना हम कृषि का विकास नहीं कर सकते हैं।

एकात्म मानववाद के प्रवर्तक दीनदयाल उपाध्याय जी ने कृषि पर बहुत ही महत्वपूर्ण विचार दिए हैं। दीनदयाल जी का मानना था कि कृषि के विकास के लिए उन्नत बीज, जैविक खाद, सिंचाई, पशुधन, तकनीक आदि से संबंधित समस्याएं दूर करनी होगी तभी कृषि का विकास होगा। वर्तमान में दीनदयाल जी के कृषिगत विचार अपनाकर कृषि की समस्याओं को दूर कर सकते हैं, तथा कृषि का सर्वांगीण विकास कर सकते हैं।

किसी देश के आर्थिक विकास में कृषि क्षेत्र छः प्रकार से योगदान कर सकता है। खाद्यान्न तथा कच्चा माल पैदा करके, औद्योगिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित उपभोग तथा पूँजीगत वस्तुओं के विक्रय के लिए बाजार पैदा करके, मजदूर उपलब्ध कराके, निर्यात योग्य आधिक्य सृजन के द्वारा विदेशी पूँजी अर्जित करके, बेरोजगारी दूर करके एवं बढ़ती आबादी के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करके।

हमारे देश की प्रकृति एवं परिस्थिति का विचार करते हुए दीनदयाल जी का मत था कि खेती, उद्योग, परिवहन, व्यापार और समाज सुरक्षा-सेवा ऐसा सीढ़ियों का क्रम सभी दृष्टि से उपयुक्त है। सभी क्षेत्र एक दूसरे के साथ इतने जुड़े हैं कि हम इनमें से किसी एक क्षेत्र का विचार अन्य क्षेत्रों को छोड़ कर नहीं कर सकते। दीनदयाल जी का मानना था कि विकासशील देश तुरन्त औद्योगीकरण के मार्ग पर न चलकर पहले खेती का

1. प्रो0 आद्या प्रसाद पाण्डेय, अर्थशास्त्र विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी
2. अनिल कुमार, शोधछात्र, अर्थशास्त्र विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी

विचार करें तभी उनके आर्थिक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो सकेगा। कोई भी राष्ट्र योग्य ढंग से नियोजन करता हो और प्रकृति की भी सामान्य कृपा हो तो अन्न के उत्पादन में स्वावलंबी हो सकता है, परन्तु पहले यदि हम विशाल औद्योगीकरण की बात करें तो इससे हमारी खेती तो चौपट होती ही है, औद्योगीकरण भी धराशायी हो जाता है।

हमारा देश कृषि प्रधान है, हमारे राष्ट्रीय आय में लगभग 14% कृषि का योगदान है, जबकि रोजगार देने में लगभग 60% है। अतः जब तक कृषि के सभी अंगों का विकास नहीं होता देश का आर्थिक प्रश्न नहीं सुलझेगा। इसके साथ ही दीनदयाल जी यह भी जान गये थे कि यदि देश का औद्योगीकरण विस्तृत एवं पक्की नींव पर खड़ा करना है तो इसके लिए भी कृषि विकास को सुदृढ़ करना पड़ेगा। उद्योग का विकास पूँजी एवं कच्चे माल की आपूर्ति के साथ ग्राहकों की प्रभावी मांग पर भी निर्भर करता है। हमारे यहाँ किसान केवल अनाज का और उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादक ही नहीं है बल्कि कारखानों में निर्मित होने वाले पक्के माल का बड़ा ग्राहक भी है। किसान का उत्पादन एवं आय जितनी मात्रा में बढ़ेगी उतनी ही मात्रा में उनकी क्रय शक्ति भी बढ़ेगी और उतनी ही मात्रा में वह उद्योग में तैयार होने वाला माल खरीद सकेगा। अतः कृषि का विकास करना आवश्यक है।

जैसा कि प्रो0 महालनोबिस द्वारा दिया गया सांख्यकीय गणना लक्षणीय है।

क्र.सं.	विभाग	पूँजी (रु. में)	रोजगार
1.	कृषि उत्पादन	57 लाख	4000
2.	उपभोग वस्तुओं का उत्पादन	33 लाख	1150
3.	बड़े उद्योग क्षेत्र	19 लाख	500

एकात्म मानववाद पर कई लोगों ने कार्य किया है जैसे- डा0 बजरंग लाल गुप्त, शरद अनन्त कुलकर्णी, महेशचन्द्र शर्मा, वी.वी. नेने इत्यादि। इन लोगों ने अपने अध्ययन में पाया कि पं0 दीनदयाल जी के आर्थिक विचार वर्तमान संदर्भ में बहुत ही प्रासंगिक है। शरद अनन्त कुलकर्णी (एकात्म अर्थनीति खण्ड चार, सुरूचि प्रकाशन नई दिल्ली) - पं0 दीनदयाल जी ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी आयामों जैसे- कृषि, उद्योग, नियोजन, विनिमय दर तथा विदेशी व्यापार पर अपने आर्थिक विचार दिए हैं। कृषि विकास के अन्तर्गत वे सिंचाई की समुचित व्यवस्था, जैविक खाद, भू-स्वामी खेती व कृषि उपज मूल्य पर बहुत ध्यान देते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि इन सभी सुविधाओं के अभाव में किसान हतोत्साहित हो जायेगा और कृषि का विकास रुक जायेगा जो कि हमारी अर्थव्यवस्था के लिए सही नहीं है। बजरंग लाल गुप्त (दीनदयाल जी का एकात्म अर्थ चिन्तन) - पं0 दीनदयाल जी कृषि विकास के साथ-साथ उद्योगों के विकास पर भी बहुत बल देते थे। कृषि क्षेत्र में प्रति एकड़ एवं प्रति व्यक्ति निम्न उत्पादकता से बहुत चिंतित थे और दोनों दृष्टियों से उत्पादकता स्तर

में वृद्धि करने के बारे में उन्होंने अनेक सुझाव दिए थे। उनका मानना था कि कृषि विकास के दृष्टि से हमें प्राविधिक एवं संस्थागत दोनों प्रकार के कार्यक्रम साथ-साथ चलाने होंगे, और भूमि की उर्वरकता को बनाये रखने वाले खाद व बीज, फसल की अदला-बदली, कृषि यन्त्रों के प्रयोग, भू-क्षरण को रोकने जैसी कई बातों पर विशेष ध्यान देना होगा।

वर्तमान में कृषि की समस्यायें-

सिंचाई की समस्या, खाद की समस्या व कृषि उपज के मूल्य निर्धारण की समस्या आदि, और पं0 दीनदयाल जी के आर्थिक विचारों की तुलनात्मक अध्ययन करें तो पायेंगे कि इन विचारों द्वारा कृषि की समस्यायें दूर कर सकते हैं। जैसे-

1. **खेती को पानी -** पं. दीनदयाल जी का मानना था कि खेती के लिए सिंचाई की उत्तम व्यवस्था होना बहुत जरूरी है क्योंकि कृषि को मानसून के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है। प्रारम्भ में सरकार ने सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बांध स्थापित किये लेकिन यह उचित नहीं था, क्योंकि बड़े बांध बनाने के लिए बहुत पूँजी चाहिए और बड़े बाँधों में एकत्र जल से बाढ़ एवं आपदा का संकट भी रहता है। इसके स्थान पर यदि छोटे-छोटे बाँध बनायी जाएं तो ज्यादा उचित होगा, क्योंकि कम पूँजी में ज्यादा बाँध बना सकते हैं और ज्यादा भूभाग सिंचित किया जा सकता है तथा जल स्तर भी गिरने से रोका जा सकता है।

2. **उर्वरक की समस्या -** खेती के विकास हेतु सिंचाई के साथ उर्वरक का होना बहुत जरूरी है। पं. दीनदयाल जी का मानना था कि हमें खेती का सही परीक्षण कर उचित मात्रा में खाद का प्रयोग करना चाहिए। हमें कोशिश करना चाहिए कि ज्यादा से ज्यादा जैविक खाद का प्रयोग हो। यदि बहुत जरूरी हो तभी रासायनिक खाद का प्रयोग करना चाहिए। फिर भी रासायनिक खादों के साथ गोबर को अवश्य मिला लेना चाहिए, जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति बची रहे और उत्पादन स्तर भी बढ़ाया जा सके।

3. **खेती एवं पशुधन -** दीनदयाल जी खेती के साथ पशुधन पर भी बहुत ध्यान देते थे। उनका मानना था कि पशुधन से एक तरफ हम खेत को जोतते हैं तो दूसरी तरफ हमें उनसे गोबर की खाद भी प्राप्त होती है और गोबर का प्रयोग हम गोबर गैस के लिए करके ऊर्जा संकट से भी बच सकते हैं।

4. **भूस्वामी खेती -** पं. दीनदयाल जी का मानना था कि हमें सहकारी खेती नहीं बल्कि भू-स्वामी खेती प्रणाली शुरू करना चाहिए, क्योंकि भारतीय किसान के मन में अपने भूमि के प्रति सदैव आकर्षण बना रहता है। भूस्वामी प्रणाली का अर्थ है कि जो किसान जिस भूमि पर खेती करे उस भूमि का मालिक वही हो। यदि किसान को यह ज्ञात हो कि जिस भूमि पर वह खेती कर रहा है वह भूमि उसकी नहीं है तो वह उस भूमि पर अच्छे से खेती नहीं करेगा, परन्तु यदि उसे उसी भूमि का मालिक बना दिया जाए तो वही किसान उस भूमि पर अधिक परिश्रम करेगा, भूमि में सुधार करेगा तथा अधिक उत्पादन करेगा। हमारे देश में भूमि व किसान का संबंध माँ और पुत्र जैसा होता है। अतः हमारे देश में भू-स्वामी खेती प्रणाली ही सभी दृष्टि से उचित है।

5. कृषि उपज का मूल्य - किसान केवल कृषिगत अनाज का या कच्चा माल का उत्पादक ही नहीं होता बल्कि उद्योगों द्वारा तैयार माल का बहुत बड़ा ग्राहक भी होता है। अतः किसानों को उनके कृषि उपज का उचित मूल्य मिलना ही चाहिए। यदि कृषि उपज का उचित दाम किसानों को दिया जायेगा तो एक ओर उनकी आय बढ़ेगी और दूसरी ओर उनकी क्रय शक्ति भी बढ़ेगी, जिससे उद्योगों द्वारा निर्मित माल की मांग बनी रहेगी और कृषिगत कच्चा माल उद्योगों को आसानी से उपलब्ध होता रहेगा। इस प्रकार कृषि एवं उद्योगों के वस्तुओं के दामों में सन्तुलन बना रहेगा और उद्योग एवं कृषि का सन्तुलित विकास होगा।

अतः निष्कर्ष रूप में देखा जाए तो पं. दीनदयाल जी के कृषिगत विचार आज बहुत ही प्रासंगिक हैं और उनके विचारों को अपनाकर हम वर्तमान कृषिगत समस्याएँ दूर कर सकते हैं तथा कृषि का सर्वांगीण विकास करके आर्थिक विकास ला सकते हैं।

सन्दर्भ :

1. ''एकात्म मानववाद'' लेखक पं0 दीनदयाल उपाध्याय, 1985 पृ0 60, सुरुची प्रकाशन, दिल्ली।
2. ''एकात्म मानव दर्शन - एक अध्ययन'' लेखक डी0पी0 ठेगड़ी, 1970, पृ0 36, सुरुची प्रकाशन, दिल्ली।
3. ''पं0 दीनदयाल उपाध्याय - विचार दर्शन'' 1986, सात खण्ड, पृ0 1000, सुरुची प्रकाशन, दिल्ली।
4. ''एकात्म दृष्टि - भारत का भवितव्य'' 2010, पृ0 70, अरुन्धति वशिष्ठ अनुसंधान पीठ - महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002
5. ''भारतीय अर्थनीति-विकास की एक दिशा'' लेखक दीनदयाल उपाध्याय, सुरुची प्रकाशन, दिल्ली।
6. ''प्रतियोगिता दर्पण'' अतिरिक्तांक, अर्थशास्त्र, 2013-14
7. ''भारतीय अर्थव्यवस्था-सर्वेक्षण तथा विलेषण'' 2011, डा0 एस0के0 तात तथा एव0एन0 तात, शिवम् पब्लिशर्स, इलाहाबाद।
8. ''एकात्म अर्थनीति - खण्ड चार'' ते0 शरद अनन्त कुलकर्णी, तृतीय संस्करण मई 2014, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली।

*****

हरित क्रान्ति, जी.एम. बीज एवं सुमंगलम्

अजीत प्रताप सिंह[1]

हिन्दू या सनातन संस्कृति के नाम से संपूर्ण सृष्टि में पहचानी जाने वाली पुण्यभूमि भारत में दस हजार वर्षों से कृषि कार्य हो रहा है। सनातन संस्कृति आदिकाल से स्वयं को स्वभावतः आत्म परिष्कृत करती आयी है, यह परिष्करण पुण्यभूमि के जीव, पर्यावरणीय और प्राकृतिक समाज के आत्मीय सम्बन्धों के अनुकूल तथा समग्र विकास के अनुरूप होता है। इस आधार पर भारतीय कृषि को आज हजारों वर्षों के परिष्करण के कारण शेष विश्व का मार्गदर्शक होना चाहिए था। अरुण डिके के अनुसार ''हजारों वर्षों की तपस्या और परमपिता परमेश्वर द्वारा इस धरती को वरदान के रूप में दिये अनमोल निवेश (वर्षा, आकाश और प्रखर सूर्य) का समुचित दोहन शोषण नहीं, हमारे ऋषि वैज्ञानिकों-पाराशर, कश्यप, वाराहमिहिर, चरक, सुश्रत आदि ने खाद्य, वस्त्र और औषधि वनस्पतियों की जो विशाल श्रृंखला खोज निकाली है, वह इस देश को क्या पूरे विश्व को खिला और पहनाकर निरोगी रख सकती है।[2]

भारत की हजारों वर्षों की जिस संपन्नता की बात की जाती है, वह मुख्यतः किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों पर टिकी थी। राजकोष में आने वाले धन का सबसे बड़ा हिस्सा किसानों से प्राप्त होता था, व्यापारियों से प्राप्त हिस्सा उसकी तुलना में कम था। मनु-स्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र आदि में स्पष्ट व्यवस्था है कि सामान्यतया राज्य कृषि उत्पादन का बारहवाँ अंश लेगा। अगर कोई विशेष संकट उपस्थित हो तो आठवाँ या छठा अंश भी माँगा जा सकता है। कभी-कभार ही ऐसा होता था कि राजा इससे अधिक अंश कर के रूप में प्राप्त करे। इसके लिए उसे किसानों से स्नेहपूर्ण अनुरोध (प्रणय व्यवहार) करना होता था। एक समय जिन किसानों से प्राप्त कर राजकोषीय आय का मुख्य हिस्सा था वे किसान आज इतने गरीब कैसे हो गए हैं? आज खेती से प्राप्त आय को कर मुक्त आय क्यों घोषित करना पड़ता है?

वर्तमान समय की कृषिगत समस्या के विषय पर गौर से देखें तो उभर कर आता है कि विकास तो हुआ लेकिन वह प्रकृति, पर्यावरण तथा देशज परिस्थितियों के अनुरूप न हो कर भोगवादी, प्रकृति विरोधी पाश्चात्य मापदण्डों के अनुसार हुआ।

ऐसा लगता है कि भारतीय कृषि में राज्य का हस्तक्षेप नीतिगत रूप में हुआ है तो यह दो उद्देश्य से

1. शोध-छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

2. अरुण डिके, ''गर्व से कहो कि मैं भारतीय किसान हूँ'' पाञ्चजन्य, पेज 26, 31 अगस्त

ही हुआ है, पहला खाद्यान्न आपूर्ति करने दूसरा बाजार में एक नया क्रेता वर्ग खड़ा करने के लिए। खाद्यान्न आपूर्ति की नीति का निर्माण करते समय उत्पादन की वृद्धि पर ध्यान तो दिया गया, परंतु कभी इस पर ध्यान नहीं दिया गया कि इसका प्रकृति और पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरी ओर इस पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि किसान बाजार में कहीं एक उत्पादक के स्थान पर ग्राहक बन न जाए। हरित क्रांति की नीतियाँ समग्र दृष्टि को ताक में रखकर तत्कालिक खाद्य समस्या पर ही केवल केन्द्रित थी। हरित क्रान्ति ने तत्कालिक खाद्य समस्या का निदान तो किया लेकिन कई समस्याओं को जन्म दे गयी। लेख में उन कई समस्याओं में से एक रासायनिक खेती और जी एम तकनीक पर प्रकाश डाला गया है।

हरित क्रान्ति

हरित क्रान्ति को भारत की पहली कृषि नीति के रूप में देखा जाता है, जिसे हाइब्रिड बीज, रासायनिक खाद और सिंचाई की सुविधाओं पर केन्द्रित किया गया। इसका उद्देश्य तत्काल देश में भूख मिटाना तथा देश को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाना था। पहला लक्ष्य तो पूरा हुआ लेकिन दूसरा लक्ष्य पूरा नहीं हो पाया। उसका मुख्य कारण यह था कि इसमें न तो किसानों पर, न तो जमीन की उर्वरता पर, न ही कृषिगत लागत पर विचार किया गया।

हरित क्रान्ति पर समाजवादी चिंतक किशन पटनायक का कहना था कि ''खेती की नई तकनीक इतनी आक्रामक है कि यह प्रकृति से जुड़ी इस गतिविधि को प्रकृति के विरुद्ध खड़ी कर रही है, जिससे जल भण्डार खाली हो रही है, भूमि का कटाव, बंजरीकरण या दलदलीकरण हो रहा है, ऊर्जा की अधिकाधिक खपत हो रही है, वातावरण में विष घुलते जा रहे हैं और जैविक विविधता का तेजी से ह्रास हो रहा है। खेती में कीटों और रोग का प्रकोप बढ़ा है, जोखिम बढ़ रहा है और पैदावार में ठहराव आ गया है। उतनी ही पैदावार के लिए किसान को निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा में रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयों तथा पानी का इस्तेमाल करना पड़ रहा है किसान के संकट का एक स्रोत आधुनिक तकनीक है।[1] वर्तमान समस्या को लेकर अर्थशास्त्री डॉ. भरत झुनझुनवाला का विचार है ''हरितक्रांति में हाइब्रीड प्रजातियों के प्रयोग से उत्पादन तो बढ़ा है, परन्तु ये प्रजातियाँ पानी के संकट को बर्दाश्त नहीं कर पाती हैं। इनकी तुलना में हमारी पारम्परिक प्रजातियाँ मौसम की मार को झेल लेती हैं।''[2]

प्रखर राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री डॉ. बजरंगलाल गुप्त का कहना है ''संपूर्ण संसार के अनुभवों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी दवाओं और अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग दीर्घकाल में हानिप्रद है और यह कृषि को सतत वर्धमान ऊँची लागत वाले व्यवसाय के रूप में बदलता जा रहा

3. किशन पटनायक, ''किसान आन्दोलन दशा और दिशा'' राजकमल प्रकाशन, पेज 6, 2006
4. डॉ. भरत झुनझुनवाला, ''वैश्विक ताप का खाद्य सुरक्षा पर संकट'' पाञ्चजन्य, पेज 35, 10 मई 2015

है, छोटे व सीमांत किसानों को कृषि-कार्यों से बाहरनिकालता जा रहा है।''[1]

समस्या कीटनाशक के कारण

मिट्टी का अपना जीवन है, उसमें असंख्य सूक्ष्म जीवाणुओं का निवास है, जल ग्रहण करने और वायु के संचार की व्यवस्था है, अनेक तरह के पोषक तत्व पेड़-पौधों को संतुलित रूप में देने की क्षमता है। जब यह पूरी व्यवस्था टूटती है तो भूमि की उर्वरता नष्ट होती है। बाहर से तो मिट्टी नजर आती है, पर उसकी जीवनदायिनी क्षमता बहुत कम हो जाती है।

रासायनिक उर्वरक पोषक तत्वों को उपलब्ध कराने वाली प्राकृतिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करते हैं। उदाहरण के लिए, मिट्टी की जलधारण क्षमता बढ़ाने, वायु संचार के लिए इसे भुरभुरा बनाने और उसे अनेक पोषण तत्व उपलब्ध कराने का बहुमूल्य कार्य केंचुए करते हैं, वे इन रसायनों के असर से बड़े पैमाने पर मारे जाते हैं। इसी तरह अनेक अन्य उपयोगी जीवाणु और वनस्पतियाँ, जो अनेक जटिल प्रक्रियाओं से मिट्टी का उपजाऊपन बनाए रखने में बहुत सहायता करते हैं, वे भी नष्ट हो जाते हैं। इनमें नाइट्रोजन की व्यवस्था करने वाले जीवाणु भी हैं। किसान के मित्र अनेक अन्य कीटों और जीवों जैसे मधुमक्खी, तितली और मेंढक आदि पर इन रसायनों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

''खेती में यह जानते हुए भी कि रासायनिक उर्वरकों से जमीन की उर्वरा शक्ति नहीं बढ़ती, केवल उसकी उत्तेजना बढ़ाई जाती है फिर भी अधिकाधिक रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से जमीन की मौलिक उर्वरा शक्ति के नष्ट होने के संकट के अलावा प्रदूषण का संकट भी पैदा हो रहा है।''[2]

टाटा स्ट्रैटेजिक मैनेजमेंट ग्रुप ने हाल ही में उद्योग संगठन फिक्की के साथ मिलकर देश के कृषि रसायन क्षेत्र पर जो रिपोर्ट तैयार की है उससे पता चलता है कि सन 1940 में जहाँ गेहूँ को गंभीर नुकसान पहुँचाने वाले दो ही कीट थे वहीं अब उनकी संख्या बढ़कर 19 हो गई है। चावल को नुकसान पहुँचाने वाले कीटों की संख्या इस अवधि में 10 से 17 हो गई है और गन्ने में तो आंकड़ा दो से बढ़कर 43 तक जा पहुँचा है। दालों और तिलहन में भी मामला अलग नहीं है। ऐसे में कीटनाशकों का इस्तेमाल बढ़ना ही है। इस वक्त कीटनाशकों का इस्तेमाल प्रति हेक्टेयर 0.6 किग्रा है। विकसित देशों में यह प्रति हेक्टेयर 5 से 7 किग्रा, जबकि चीन में 13 किग्रा।

हरित क्रान्ति के परिणामों का ही फल है कि ''विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार माताओं के दूध में 2.1 गुना अधिक विषाक्त तत्व पाये गये हैं। इसके अनुसार औसत भारतीय के दैनिक भोजन में लगभग 0.7 मिलीग्राम डी.डी.टी. पायी गयी है। डी.डी.टी. की मात्रा गेहूँ में 1.7 से 17.4 पी.पी.एम. चावल में 0.8 से 16.4 पी.पी.एम., आलू में 86.4 पी.पी.एम. पायी गई है। बेहिसाब दवा का छिड़काव करने से

1. डॉ0 बजरंगलाल गुप्त, ''सुमंगलम्'' सुरुचि प्रकाशन नई दिल्ली, पेज0 80, 2011
2. डॉ0 बजरंगलाल गुप्त, ''सुमंगलम्'' सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली,पेज0 35, 2011

पैदा हुए टमाटर के खाने से मस्तिष्क, पाचन अंगों, किडनी, छाती एवं स्नायु तंत्रों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।''[1]
पंजाब में आज देश के औसत कैंसर रोगी से ज्यादा रोगी हैं।

कीटनाशकों से होते हैं ये कैंसर[2]

डी.डी.टी. से	स्तन कैंसर, नॉनहोर्जाकेन्स लिम्फोमा, रक्त कैंसर
एण्डोसल्फान से	पुरुष में प्रोस्टेट व वृषण कैंसर और महिलाओं में स्तन कैंसर
एल्ड्रीन से	फेफड़ों का कैंसर
क्लोरोडेन से	मस्तिष्क कैंसर, नॉनहोजकिन्स लिम्फोमा
लिन्डेन से	लिवर, स्तन व नॉनहोजकिन्स लिम्फोमा
डायाजियोन से	नॉनहोजकिन्स लिम्फोमा
2, 4-डी से	स्तन कैंसर की दर दुगनी, नॉनहोजकिन्स लिम्फोमा
सिमाजीन व एट्राजीन से	वृक्षण कैंसर
ऐमीनोट्रायाजोल से	थायरॉयड कैंसर

जैव विविधता

फसलों को जिन विभिन्न पोषक तत्वों की आवश्यकता है उन्हें आवश्यकता अनुसार उपलब्ध करवाने के लिए प्रकृति की अपनी व्यवस्था है। हमारे पूर्वज कृषक आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली के ये नाम तो नहीं जानते थे कि इतना नाइट्रोजन चाहिए, इतना फास्फोरस या इतने सूक्ष्म तत्व, पर पीढ़ियों से संचित अनुभव से उन्होंने यह सीख लिया था कि इन पोषक तत्वों को उपलब्ध करवाने के लिए कौन से उपाय जरूरी हैं। दलहनी फसलों में वायुमंडल से नाइट्रोजन अवशोषित करने की अद्‌भुत क्षमता है। दलहनी फसल बोने से खेत में नाइट्रोजन की मात्रा अपने आप बढ़ जाती है। किसानों ने सदा फसल-चक्र या मिश्रित खेती अपना कर इन फसलों पर समुचित ध्यान दिया। एक फसल ने नाइट्रोजन प्राप्त कर दूसरी फसल को नाइट्रोजन उपलब्ध करवा दी। फसल चक्र में अलग-अलग गहराई की जड़ें मिट्टी की विभिन्न तहों से पोषण प्राप्त करती है, ताकि एक तह का अधिक दोहन न हो। इस तरह लगभग पाँच हजार साल से देश में खेती होती रही और फसलों का पोषण करने की मिट्टी की क्षमता भी बनी रही। हरित क्रान्ति आने के बाद पहले से चले आ रहे फसल-चक्रों और मिश्रित फसलों के चुनाव में भी बदलाव आया और विशेषकर नई खेती के क्षेत्रों में दलहन की फसल पहले की अपेक्षा कहीं कम बोई जाने लगी। इस कारण मिट्टी की उर्वरता को क्षति पहुंची। दलहनी फसलों के न होने

1. प्रो0 वीरेन्द्र कुमार व डॉ0 कनुप्रिया चतुर्वेदी, ''जैविक खेती की पद्धतियाँ'' पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, 2013
2. पाञ्चजन्य, पेज 30, 31 अगस्त 2014

के कारण अन्य फसलों के लिए नाइट्रोजन के लिए अब यूरिया की आवश्यकता पड़ने लगी। यह नाइट्रोजन व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए सबसे हानिकारक है।

दलहनी अनाजों को पानी की जरूरत कम पड़ती है, इसलिए कम वर्षा के क्षेत्र में इन फसलों को बोने से संतोषजनक पैदावार की आशा की जा सकती है। इसके अलावा मोटे अनाज प्रोटीनयुक्त होने के कारण स्वास्थ्य के लिए भी लाभदायक होते हैं। ''भारतीय संस्कृति में अधिसंख्यक शाकाहारी हैं जिसके कारण यहाँ के लोगों के भोजन में दाल एक महत्वपूर्ण खाद्य पदार्थ है, जो वायुमंडल से नाइट्रोजन निःशुल्क प्राप्त करता है। अब मांसाहारी होने का परिणाम व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ भूमि के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।''[1] संपूर्ण भारत हरित क्रान्ति के पहले तक दाल और तिलहनों के मामले में आत्मनिर्भर था। हरित क्रांति ने भारत की जैव विविधता को गेहूँ और धान तक सीमित कर दिया है।

खेती में विविधता न केवल भूजल स्तर को बनाए रखने में उपयोगी होगी, बल्कि फसलों की पैदावार में जो एकरूपता आ गई है, उसे भी विविधता के द्वारा व्यक्ति के भोजन तथा स्वास्थ्य के अनुरूप बदला जा सकेगा। कृषि अनुसंधान में यह देखना चाहिए कि किस तरह प्रकृति अपनी ओर से मिट्टी को उपजाऊ बनाती है और पौधे को विभिन्न पोषण तत्व उपलब्ध कराती हैं। इसकी समझ बनाने के बाद हम अपनी खेती को प्रकृति की प्रक्रिया से जोड़ कर ही चलें और उसमें व्यवधान डालने वाला कोई कार्य न करें। वास्तविक वैज्ञानिक प्रक्रिया तो यही है जो किसानों की दृष्टि से सबसे सस्ती और टिकाऊ सिद्ध होगी।

जी.एम. बीज

जी.एम. बीजों का अर्थ है बीजों की प्राकृतिक संरचना से छेड़छाड़ कर उसे अपने मनमाफिक बनाना यानि जी.एम. बीज ऐसा बीज है जिसमें जेनेटिक इंजीनियरिंग के जरिए उसके जींस में बदलाव कर दिया जाता है। सामान्यतः एक पौधे की विभिन्न किस्मों से नई किस्में तैयार की जाती रही है, जैसे गेहूँ की दो किस्मों से एक नई किस्म तैयार कर ली जाती है, परन्तु जेनेटिक इंजीनियरिंग में किसी भी पौधे या जन्तु के जीन का प्रवेश किसी अन्य पौधे या जीव में करवाया जाता है, जैसे आलू के जीन का प्रवेश टमाटर में करवा कर या सुअर के जीन का प्रवेश टमाटर में करवा कर या मछली के जीन का प्रवेश सोयाबीन में करवा कर या मनुष्य के जीन का प्रवेश सुअर में करवा कर नई प्रजाति उत्पन्न की जाती है। यह कार्य जीन बंदूक से पौधे की कोशिका पर बाहरी जीन दाग कर किया जाता है या किसी बैक्टीरिया में बाहरी जीन का प्रवेश कर उससे पौधे की कोशिका का संक्रमण किया जाता है।

जानी मानी बायोकेमिस्ट व पोषण विशेषज्ञ प्रोफेसर सूसन बारडोक्ज ने कहा है, अब तक की सब तकनीकें ऐसी थीं जो नियन्त्रित हो सकती थीं। पर मानव इतिहास में जी.एम. पहली तकनीक है जिससे खतरा उत्पन्न हो गया हो तो इस क्षति को रोका नहीं जा सकता है, क्षतपूर्ति नहीं हो सकती है। जब एक जी.एम.

1. डी.डी. किसान, विचार-विमर्श, 7.30-8.30 शाम, 6 अगस्त 2015

आरगनिज्म को रिलीज कर दिया जाता है तो वह नियन्त्रण से बाहर हो जाता है, हमारे पास उसे लौटाने का कोई उपाय नहीं है ..... इसके मनुष्य व अन्य जीवों के स्वास्थ्य पर बहुत गम्भीर परिणाम हो सकते हैं।

''इंडिपेंड साईंस पैनल में एकत्रित विश्व के अनेक देशों के वैज्ञानिकों व विोषज्ञों के अनुसार - जी.एम. फसलों के बारे में जिन लाभों का वायदा किया गया था वे प्राप्त नहीं हुए, व ये फसलें खेतों में बढ़ती समस्याएँ उपस्थित कर रही हैं। अब इस बारे में व्यापक सहमति है कि इन फसलों का प्रसार होने पर ट्रान्सजेनिक प्रदूषण से बचा नहीं जा सकता है अतः जी.एम. फसलों और गैर जी.एम. फसलों का सह अस्तित्व नहीं हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि जी.एम. फसलों की सुरक्षा प्रमाणित नहीं हो सकी है। इसके विपरीत पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं जिनसे जी.एम. फसलों की सुरक्षा सम्बन्धी गम्भीर चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। यदि इनकी उपेक्षा की गयी तो स्वास्थ्य व पर्यावरण की क्षति होगी जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती है, जिसे फिर से ठीक नहीं किया जा सकता है। जी.एम. फसलों को अब दृढ़ता से रिजेक्ट कर देना चाहिए।''[8]

जीन परिवर्तित बीज को कॉमर्शियल स्तर पर बेचने के पहले इनका फील्ड ट्रायल किया जाता है। प्रयोगशाला में बनाए गए पौधे खेत में कितना सफल हैं, इसका आकलन किया जाता है। फील्ड ट्रायल में सही-सही पता लगता है कि मेजबान पौधे में दाता का कौन सा जीन आरोपित किया गया है। जैसे कपास के पौधे पर बीटी कीड़े का जीन जोड़ने से कपास का रंग काला हो जाता है, पौधा बौना हो सकता है तथा उसमें कीटनाशक क्षमता पैदा हो सकती है। मेजबान पौधे ने दाता के किस गुण को अंगीकार किया है यह फील्ड ट्रायल में पता लगता है। इस तरह के फील्ड ट्रायल के लिए पर्यावरण मंत्रालय से मंजूरी लेना जरूरी होता है। ऐसा इसलिए क्योंकि फील्ड ट्रायल में कई तरह का खतरा होता है। जैसे मान लीजिए सरसों के जीन परिवर्तित बीज का फील्ड ट्रायल किया गया। इस जीन परिवर्तित पौधे में कीटाणुओं को मारने की क्षमता है, लेकिन फील्ड ट्रायल में पाया गया कि सरसों का दाना भी जहरीला हो गया। ऐसे में इस प्रजाति को रोका जा सकता है, परंतु ट्रायल की अवधि में यह जहरीला जीन फैल सकता है। जहरीले फूल के पराग को मुधमक्खी आदि के द्वारा दूसरे खेतों में उग रही सरसों के खेत में पहुँचा दिया जाता है। ऐसे में जहरीलापन संपूर्ण क्षेत्र के सरसों के खेतों में फैल सकता है।

अमेरिका ने जीन परिवर्तित मक्के की खेती को हरी झंडी दे दी थी। स्वीकृतियों के अनुसार केवल एक प्रतिशत क्षेत्र में ही जीन परिवर्तित मक्के की खेती हो रही थी, लगभग आधे क्षेत्र में उग रहे मक्के में जीन परिवर्तन पाया गया। यानी एक प्रतिशत क्षेत्र से 50 प्रतिशत क्षेत्र में वह जीन स्वतः फैल गया था। इसी प्रकार इंग्लैंड की सरकार द्वारा सरसों के बीज के प्रयोग का प्रभाव 200 गज से भी दूर उग रहे पौधें में जीन परिवर्तन पाया गया। इन पौधों में कीटनाशक दवाओं का प्रतिरोध की क्षमता बढ़ गयी थी फलस्वरूप उन्हें कीटनाशक से मारना कठिन हो गया था।

1. भारत डोगरा, ''खाद्य व्यवस्था पर जीएम फसलों की बढ़ती गिरफ्त'' पेज 31, दिसम्बर 2011

वैज्ञानिकों के अनुसार इससे 'सुपर वीड' के पैदा होने की संभावना है, जो कांग्रेस घास की तरह सर्वत्र फैल सकती है और इसका उन्मूलन करना कठिन होगा। इससे खेतों के आसपास जंगली पौधों के बीज पैदा करने की क्षमता भी कम हो जाती है। ये जंगली बीज ही चिड़ियों, मधुमक्खियों तथा तितलियों का भोजन होते हैं। फलस्वरूप उस पूरे क्षेत्र में इन जीवों पर दुष्प्रभाव पड़ने और संपूर्ण क्षेत्र के पर्यावरण में बदलाव आने की संभावना बन रही है। इन कारणों से फील्ड ट्रायल पर रोक लगाना पूरी तरह से उचित है।

पर्यावरणविद् भारत डोगरा के अनुसार जेनेटिक प्रदूषण से जी.एम. फसलें उन अन्य किसानों के खेतों को भी प्रभावित कर देंगी जो सामान्य फसलें उगा रहे हैं। उस तरह जिन किसानों ने जी.एम. फसलें उगाने से साफ इनकार किया है, उनकी फसलों पर भी इन खतरनाक फसलों का असर हो सकता है। इंडिपेंडेंट साइंस पैनल में मौजूद 11 देशों के वैज्ञानिकों ने जी.एम. फसलों के स्वास्थ्य के लिए अनेक संभावित दुष्परिणामों की ओर ध्यान दिलाया है, जैसे प्रतिरोधक क्षमता पर प्रतिकूल असर, एलर्जी, जन्म विकार, गर्भपात आदि।

जैफरी एम. स्मिथ की पुस्तक ''जेनेटिक रूलेट' में ऐसे दर्जनों अध्ययनों का सार है। इसमें चूहों में हुए अनुसंधानों में पेट, लिवर आँतों जैसे विभिन्न महत्वपूर्ण अंगों के बुरी तरह क्षतिग्रस्त होने की चर्चा है। अपने उत्पादों पर कंपनियों द्वारा जो टेस्ट किए जाते हैं, उनको जान-बूझकर इस तरह का रूप दिया जाता है कि समस्याएँ सामने न आ सकें। कभी सैंपल साइज छोटा रखा जाता है, कभी तुलना ठीक से नहीं की जाती, तो कभी उत्पन्न स्वास्थ्य समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया जाता है।

फ्रांस में माइक्रोबॉयोलॉजी के प्रोफेसर गिल्स एरिक सेरालिनी ने 2012 में अपने शोध में जी.एम. खाद्य मक्का को दो वर्षों तक चूहों को खिलाया, इसका असर यह हुआ कि उनकी मृत्यु की संभावना जी.एम. खाद्य न खाने वाले चूहों से दो-तीन गुना अधिक पाई गई व किडनी, लिवर के ट्यूमर की आशंका भी बहुत अधिक पाई गई। अधिक दुष्परिणाम 90 दिन के बाद प्रकट हुए जिससे संकेत मिलता है कि यदि पहले भी अध्ययन 90 दिन से आगे तक किए जाते तो उनके भी ऐसे ही परिणाम मिलते।

यूनियन ऑफ कंसर्नड साइंटिस्ट्स नामक वैज्ञानिकों के संगठन ने कुछ समय पहले अमेरिका में कहा था कि जी.एम. के उत्पादों पर फिलहाल रोक लगनी चाहिए, क्योंकि यह असुरक्षित है, इनसे उपभोक्ताओं, किसानों व पर्यावरण को कई खतरे हैं।

बीते एक दशक में हमारे देश के खाद्यान्न उत्पादन में पाँच गुना से अधिक बढ़ोत्तरी देशी बीजों से हुई है। इसमें किसी जी.एम. बीज का कोई योगदान नहीं है। खुद अमेरिका का कृषि विभाग कह रहा है कि जी.एम. सोया और जी.एम. मक्का की उपज गैर जी.एम. फसलों की तुलना में कम है। रूस ने अपने यहाँ जी.एम. बीजों पर पूरी तरह से रोक लगा दी है। इटली ने अभी हाल ही में एक कानून बनाकर जी.एम. बीजों पर रोक लगा दी है। उस कानून में जी.एम. खेती करने वालों को एक से तीन साल तक की कैद या आर्थिक दंड का प्रावधान किया गया है, चीन ने भी अपने यहाँ जी.एम. खाद्य फसलों पर रोक लगा दी है।

पक्ष में तर्क

कृषि वैज्ञानिक सुरिंदर सूद ने बिजनेस स्टैंडर्ड समाचार पत्र में लिखा कि सरकार द्वारा दी गई वित्तीय सहायता से सरकारी संस्थानों और राज्य कृषि विश्वविद्यालयों ने भारी पैमाने पर जी.एम. बीज विकसित किये हैं लेकिन फील्ड ट्रायल न होने के कारण निवेश जाया होता दिख रहा है, क्योंकि वक्त के साथ बीजों की प्राणशक्ति खत्म हो जाती है। विभिन्न सरकारी संस्थानों द्वारा विकसित किया गया बीटी बैगन की कम से कम 16 किस्में अपनी उर्वरता खो चुकी है। कई जी.एम. फसलें विकास के विभिन्न चरणों में है। इसमें बड़े पैमाने में उपभोग की जाने वाली सब्जियाँ, तिलहन और अनाज शामिल है, जिसमें फूलगोभी, बंदगोभी, आलू, टमाटर, सरसों, गेहूँ और चावल की किस्में हैं। विटामिन ए और लौह गुणों से युक्त चावल की किस्में भी दांव पर लगी हैं। इसके अतिरिक्त जी.एम. परीक्षण पर फैसले में देरी से जैव तकनीक परियोजना की लागत बढ़ जाएगी।

जी.एम. सरसों का मामला इस दिशा में आँखें खोलने वाला है। इसे भारत में विकसित किया गया लेकिन उसकी वाणिज्यिक खेती की इजाजत नहीं दी गई। हालांकि अब इसे कामयाबी के साथ बांग्लादेश में उगाया जा रहा है, जिससे वहाँ उत्पादन लागत घट गई है, कीटनाशकों का प्रकोप कम होने से उत्पादकता और मुनाफे में वृद्धि हुई।

किसान संगठनों के फाउन्डेशन (सीफा) के अध्यक्ष चेन्गल रेड्डी समय समय पर ''सरकार से किसानों को अधिक उत्पादकता वाली जी.एम. फसलों की खेती करने की अनुमति दिए जाने की गुहार लगाते रहते हैं। उनके संगठन का मानना है कि देश की खाद्य सुरक्षा तथा आमदनी बढ़ाने के लिए कृषि उत्पादकता बढ़ाना जरूरी है। आज जब जोतें छोटी होती जा रही हैं और विभिन्न कारणों से कृषि योग्य भूमि दूसरे कामों के लिए उपयोग में लाई जा रही है तथा कृषि-भूमि का कुल रकबा घटने लगा है तब बिना उत्पादकता बढ़ाए न तो किसानों का गुजारा है और न ही देश का।''[1]

बी.टी. कपास

बी.टी. कपास को यदि किसी उद्योग का कच्चा माल या औद्योगिक रूप से देखें तो सत्य कुछ इस तरह का है। करीब 15 वर्ष पहले भारत का सूती वस्त्र उद्योग चारों खाने चित्त था चीन की मार हम पर पड़ रही थी। वहीं 2010 के हालात पर नजर डालते हैं, यह एकदम नई और बदली हुई दुनिया है। कपड़ा उद्योग में लौटी रंगत की सबसे बड़ी वजह शायद 10 साल पहले बड़े पैमाने पर बीटी कपास की खेती शुरू करना था। भारत में एक बार फिर से कपास का सरप्लस उत्पादन हुआ था। भारत विश्व में कपास उत्पादन का तीसरा बड़ा देश बना। अब जब देश में कच्चे माल का सरप्लस उत्पादन हो तो मुनाफा होना तो स्वाभाविक ही है। जब भी किसी बदलाव की ओर कदम बढ़ाए जाते हैं तो एक डर, एक भय बना रहता ही है। जब बी.टी. कपास

1. यू.के.एस. चौहान, ''भारत में जीएम फसलों का भविष्य'' योजना, पेज0 18, जून 2014

को पहली दफा पेश किया गया था तो भी बड़े पैमाने पर चिंताएँ जताई गई थी। आज देखिए, उन सभी आशंकाओं को पीछे छोड़ हम कहाँ हैं। आज प्रति व्यक्ति लुधियाना में जितनी मर्सिडीज है, उतनी भारत के किसी दूसरे शहर में नहीं हैं।

परन्तु बी.टी. कपास को यदि दूसरे पहलू यानी किसान, स्वास्थ्य, पर्यावरण आदि के नजरिये से देखें तो सत्य कुछ इस तरह का है। कृषि वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं कि बी.टी. कपास का क्षेत्रफल तेजी से बढ़ने के दौर में भारत में कपास उत्पादकता में शिथिलता आई है, नए हानिकारक कीड़ों या जंतुओं का प्रकोप बढ़ा है और मिट्टी के प्राकृतिक उपजाऊपन पर प्रतिकूल असर पड़ा है। केंद्रीय कपास अनुसंधान संस्थान के निदेशक के आर क्रांति ने हाल के अपने अनुसंधान-पत्रों में इन समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया है। चीन में बी.टी. कपास उगाने वाले किसानों की स्थिति पर हाल ही में ''गार्डियन' में आयन सिंपल ने लिखा है बी.टी. कपास उगाने के बाद मिरिड कीड़ों का प्रकोप बढ़ गया, जिससे दो सौ तरह के फल, सब्जियों और मक्का की फसलें तबाह हो सकती हैं। चीन की कृषि अकादमी के वैज्ञानिक डॉ. कांगमिग वू के अनुसंधान ने भी इस ओर ध्यान दिलाया है। बी.टी. कपास या उसके अवशेष खाने के बाद या ऐसे खेत में चरने के बाद अनेक भेड़-बकरियों के मरने और पशुओं के बीमार होने की बात सामने आई है। डॉ. सागरी रामदास ने इस बारे में विस्तृत अनुसंधान किया है। उन्होंने बताया है कि ऐसे मामले विशेष कर आंध्र प्रदेश, हरियाणा, कर्नाटक और महाराष्ट्र में सामने आए हैं। हरियाणा में दुधारू पशुओं को बी.टी. कपास और खली खिलाने के बाद उनमें दूध कम होने और प्रजनन की गंभीर समस्याएँ सामने आईं।

''वर्ष 2002 में बी.टी. (बेसिलस थुरिनजेनिसस) कपास को भारत में किसानों के हाथों में कई सारे फील्ड ट्रायल के बाद यह कह कर सौंप दिया गया कि इसकी खेती की लागत सामान्य कपास के मुकाबले कम पड़ेगी और इसमें कीटनाशकों का खर्च भी कम आएगा। दरअसल बी.टी. कपास को मिट्टी में पाए जाने वाले बैक्टीरिया बेसिलस थुरिनजेनिसस से जीन निकालकर तैयार किया गया। इस जीन को Cry 1AC का नाम दिया गया। माना जाता है कि इस बीज को कीड़े नुकसान नहीं पहुँचा सकते हैं, लेकिन कुछ सालों के दौरान ही इस जीन से तैयार फसल को कीड़े नुकसान पहुँचाने में सक्षम हो गये। स्थिति कुछ ऐसी बनी कि बीटी कपास की खेती भारत के कुल फसलों की खेती में पाँच फीसदी रकबे में होती है जबकि इस्तेमाल में आने वाले कुल कीटनाशकों का 55 प्रतिशत हिस्सा इसकी खेती में ही खप जाता है। जब इस विषय पर चर्चा उठी तो कहा गया कि कीट लगने की वजह 'रिफ्यूजी' यानी भारत में तैयार नहीं किये गये बीजों के उपयोग की वजह से हुआ है, लेकिन बाद में कंपनी ने बीटी कपास-1 (बोलगार्ड-1) के स्थान पर 2006 में Cry 2Ab जीन के नाम पर बीटी कपास-2 (बोलगार्ड-2) दुनिया के सामने रखा, लेकिन इसकी भी स्थिति वैसी ही है।''[1]

कपास की खेती मानव सभ्यता के इतिहास में पाँच हजार साल से होती आ रही है। लेकिन इसमे दो

1. जसपाल सिद्धू, ''बीटी कपास कंपनियों के लिए सफेद सोना'' सबलोग, दिसम्बर, पेज 27, 2011

दशक पहले तब एक नया मोड़ आया जब महाराष्ट्र स्थित माहिको हाइब्रिड सीड कंपनी ने अमेरिकी कंपनी मोंसेंटो से साझेदारी की। वर्ष 1999 में अमेरिकी कंपनी मोंसेंटो इण्टरप्राइजेज से माहिको बी.टी. कपास भारत लेकर आया। भारत में पहले से मौजूद कई सारी किस्मों से हाइब्रिड करा कर यहाँ अलग-अलग नामों से बीटी कपास के बीज तैयार किये। इस खेल में माहिको की कुल साझेदारी मात्र 26 प्रतिशत है। माहिको ने पहला फील्ड ट्रायल 1999 में किया। अगले वर्ष 2000 में भी बड़े स्तर पर फील्ड ट्रायल किये गये और वर्ष 2001 में कंपनी को एक साल का और मौका दिया गया। विज्ञान एवं तकनीकी मंत्रालय द्वारा नेशनल बोटेनिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट को इस सिलसिले में शोध करने के लिए कोष भी मुहैया कराया गया।

जिसका बीज, उसकी खेती। साफ है जब मोंसेंटो का बीज होगा तब खेती भी उसकी होगी। आज सब इन्हीं का हो गया है। मेंसेंटो, कारगिल, माहिको, वालमार्ट और सिजेंटा पूरी दुनिया में बीज उत्पादन और वितरण में इन कम्पनियों की 95 प्रतिशत की भागीदारी है। ख्याल रहे कि भारत में बीटी कपास की ब्यूह रचना सिजेंटा ने रची थी। इससे तबाह कपास उत्पादक किसान आज भी आत्महत्या कर रहे हैं। इसी तरह बिहार में मक्का बीज में धोखाघड़ी मोंसेंटो ने किया था। कर्नाटक और तमिलनाडु में बी.टी. बैंगन को बढ़ावा देने का फरेब माहिको ने किया था। बी.टी. कपास के मालिक ताकतवर ही नहीं खतरनाक भी हैं। याद रहे कि वियतनाम युद्ध में उसके जंगलों और फसलों को जलाने के लिए अमरीकी वायुसेना ने जिस खतरनाक रसायन का छिड़काव किया था उसे मोंसेंटो ने ही बनाया था।

''विदर्भ की भूमि कपास की खेती के लिए ज्यादा उपयुक्त है। विदर्भ का किसान अपने खाने के लिए खाद्यान्न की खेती करता था और अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए साथ में कपास की खेती करता था। एक क्विंटल कपास बेचकर उससे जितने पैसे मिलते थे, उससे वह 12 ग्राम सोना खरीद सकता था। लेकिन हालात बदल गये आज विदर्भ के अधिकतर किसान केवल कपास उत्पादन करते हैं और कपास का दाम लगभग स्थिर है, जबकि किसान की बीज, उर्वरक, कीटनाशक और अन्य लागतों की कीमतें पहले से चार से छः गुना हो गयी हैं। आज डब्ल्यू.टी.ओ. समझौते के कारण विदेशों से कपास का भारी आयात हो रहा है। 1994 में कपास की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें 1.1 डालर से घटकर मात्र 50 सेन्ट रह गई हैं। देश में इस कारण कपास की कीमत नहीं बढ़ पायी। आज एक क्विंटल कपास बेचकर वह 1.5 ग्राम भी सोना खरीद नहीं सकता। कृषि लागत ही नहीं किसानों की जीवन लागत भी लगातार बढ़ती गयी, जबकि कृषि अलाभकारी होती गयी। यही नहीं बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने बीजों को बेचने के लिए किसानों को गुमराह करती रहीं हैं। गौरतलब है कि विदेशी कंपनियों द्वारा निर्मित बी.टी. कपास का बीज जिसका उत्पादन लागत तो मात्र 20 रुपये प्रति पैकेट है, देश में इन कंपनियों द्वारा उसे 900 से 1000 रुपये प्रति पैकेट बेचा जा रहा है। लाभ कमाने के लिए ये किसानों को यह भी नहीं बता रही हैं कि यह बीज केवल सिंचित भूमि के लिए उपयुक्त है। ऐसे में वर्षा न होने पर तमाम लागत लगाने पर भी फसल नष्ट हो जाती है और किसान को भारी नुकसान होता है। यह भी किसानों

की आत्महत्या का मुख्य कारण है।''[1]

संयुक्त राष्ट्र के विशेष दूत ओलिवियर डी शटर (2009) ने वाणिज्यिक बीजों पर बढ़ती निर्भरता पर चिंता जताई। उनके अनुसार कुछ मुट्ठी भर शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों का नियंत्रण स्थापित होने का विकासशील देशों के छोटे किसानों पर बेहद बुरा असर पड़ेगा। उन्होंने पेटेंट और घटती जैव विविधता के कारण बीज बाजार में बढ़ते एकाधिकार को लेकर अपनी चिंता जताई। उनके अनुसार 10 कृषि जैव प्रौद्योगिकी कंपनियों की वैश्विक बीज बाजार में 67 प्रतिशत हिस्सेदारी है। ये सभी कंपनियाँ उत्तर में स्थित हैं। इतना ही नहीं, बौद्धिक संपदा अधिकार के जरिये संकर प्रजाति तैयार करने के लिए मुख्यतः जो शोध किया जा रहा है वह विकसित देशों के धनी किसानों की जरूरतों पर आधारित है। विकासशील देशों को बौद्धिक संपदा का चुनाव अपनी जरूरतों के मुताबिक करना चाहिए न कि उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। किस फसल की पैदावार सबसे कम है और कहाँ शोध की जरूरत है, इस बारे में कोई मसौदा तैयार किए बगैर सरकार ने जैव बायोटेक बीज कंपनियों द्वारा तैयार सूची को स्वीकार कर आसान रास्ता चुन लिया है। शटर के अनुसार दुनिया की सबसे बड़ी कंपनी मोनसेंटो की वैश्विक बाजार में 23 प्रतिशत हिस्सेदारी है। चिंता की सबसे बड़ी वजह यह है कि वाणिज्यिक बीज प्रणाली कृषि जैव विविधता के लिए एक चुनौती बन सकती है। शटर ने श्रीलंका का उदाहरण दिया है, जहाँ 1959 में करीब 2,000 किस्मों के चावल की खेती की जाती थी लेकिन, आज वहाँ 100 से कम किस्मों की ही खेती की जाती है। जैव विविधता इसलिए संकट में है, क्योंकि सभी पर एक जैसे उन्नत बीजों को अपनाने का दबाव लगातार बढ़ रहा है। जबकि जैव विविधता के जरिए जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का मुकाबला किया जा सकता है। वैश्विक तापवृद्धि को देखते हुए यह फसल हमारी आखिरी उम्मीद है और जल स्तर में गिरावट के साथ ही अगर गेहूँ तथा धान की खेती असंभव नहीं होती है तो अव्यावहारिक अवश्य हो जाएगी।

सुझाव

आज की आधुनिकता की एक पहचान यह भी है कि हमें इस तरह मुग्ध करता है कि हम मूढ़ हो जाते हैं। हमारे मुँह पर ढेर सारे शब्द मारे जाते हैं जिनका कोई खास मतलब नहीं होता और हमारे साथ छल किया जाता है। भारतीय कृषि में बाजारवादी ऐसा ही कर रहे हैं। भारतीय कृषि में हरित क्रान्ति और जी.एम. बीज की घटना अलग-अलग नहीं है। हरित क्रान्ति के परिणाम सम्पूर्ण मानव समाज के सामने है और जरूरत इस समस्या के निदान की है नहीं तो बाजारवादी हावी होते जाएंगे और परिणाम फिर विकृत रूप में सामने आयेगा। इस समस्या के निदान के लिए सर्वप्रथम जरूरत दृष्टिकोण की है जो डॉ. बजरंगलाल जी की सुमंगलम् की अवधारणा में निहित है। ''सुमंगलम् से आशय है अपने शाश्वत जीवन-मूल्यों के प्रकाश में अपने देश व समाज की प्रकृति-प्रवृत्ति, आशा-आकांक्षा, आवश्यकता और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में मुख्यतः अपने ही शक्ति-सामर्थ्य, साधन संपदाओं एवं कौशल-प्रतिभाओं के बलबूते पर देश की कर्मशक्ति व

1. डॉ. अश्विनी महाजन, आज दैनिक समाजचार पत्र, 14 जून 2015

ऊर्जा शक्ति के जागरण के माध्यम से धारणक्षम, पोषणक्षम, संस्कारक्षम, सर्वमंगलकारी, समतामूलक, संतुलित एवं सर्वतोमुखी विकास का दर्शन।''[1]

सृष्टि का निर्माण जीवों के परस्परावलम्बन और उनके सम्पोषण से हुआ है। सृष्टि के निर्माण और विकास की यह प्रक्रिया करोड़ों वर्षों से नैसर्गिक सन्तुलन और सम्पोषण की बुनियाद पर टिकी है। मनुष्य उन प्राणियों में से एक प्राणी है जो अपेक्षाकृत विकसित और परिष्कृत है। इस अर्थ में मनुष्य के ऊपर अपने कर्तव्य का दोहरा दायित्व आन पड़ा है। पहला, परस्परावलम्बन की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहे और दूसरा यह कि दूसरे प्राणियों को क्षति पहुँचाने वाली प्रक्रिया के खिलाफ संघर्ष, यानी संघर्ष और निर्माण की दोहरी प्रक्रिया का दायित्व इंसान को उठाना है।

इस विषय पर पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना था कि ''हम जो चाहते हैं, यह है अपनी स्वतंत्रता और अपना भोजन। यह तभी संभव है जब हम ''विदेशी भोजन से मुक्ति'' के अपने पुराने उद्घोष को फिर से गुंजित करें। विदेशी स्रोतों पर निर्भरता हमको दुर्बल और जड़ीभूत किंवा विपर्यस्त बना देगी।''[2] इसका पालन होना चाहिए। दूसरी बात खेती एक रासायनिक खेल नहीं, जीवन-प्रणाली है। इसलिए हमारे पास जैविक खाद का जो विकल्प था उसकी तरफ वापस लौटना होगा। वापसी पराजय नहीं होती कई बार वह विवेक की तरफ अरोहण भी होती है। वैसे भी बुनियादी ज्ञान तो खेतों में ही मिलता है।

अनिश्चित मौसम के दौर में किसान ऋणग्रस्त नहीं हों, इसके लिए ऐसी सस्ती तकनीकों से उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए, जिनसे किसानों पर बोझ न पड़े। तकनीकी कभी भी अच्छी या बुरी नहीं होती हैं। वह तो बस एक तकनीक होती है। कोई भी नया आविष्कार या विकास चाहे कितना बड़ा या छोटा क्यों न हो, वह तब तक कायम रहेगा जब तक उसकी उम्र खत्म नहीं होती है। ईश्वर और बाजार तब तक तकनीकों में बदलाव करते रहेंगे जब तक कि वह लोगों की जरूरतें पूरी नहीं करती है।

खेती महज परम्परा का परिष्कार नहीं है। यह प्रकृति और संस्कृति के सम्कृति का दूसरा नाम है। इंसान के श्रम, पशु की पूँजी ऊर्जा और अन्य प्राणियों के संवेदना के जोड़ की यह लोकविद्या नये जीवन का निर्माण करती है। भू-आकृति और भू-भाग को ध्यान में रखकर हमारे पूर्वजों ने खेती के जिस शास्त्र का निर्माण किया वह न सिर्फ विकसित था, बल्कि परस्पर पूरक भी था। इस खेती में हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मानव और मानवेतर प्राणी का रिश्ता जितना सघन होगा खेती उतनी ही समृद्ध और जीवनदायिनी होगी। ''मनुष्य, प्रकृति व पर्यावरण अविभाज्य हैं, अतः मनुष्य को प्रकृति के साथ तालमेल करते हुए रहना चाहिए और इसी को आधार बनाकर हमें अपनी संपूर्ण तकनीकी-आर्थिक संरचना का विकास करना चाहिए। इसी दृष्टिकोण के कारण भारतीय मनीषियों ने धरती के सीमित साधनों का मितव्ययतापूर्ण उपयोग करने पर जोर दिया था और प्रकृति को जननी के रूप में देखा था।''[3]

1. डॉ. बजरंगलाल गुप्त, ''सुमंगलम्'' सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 44, 2011
2. पं0 दीनदयाल उपाध्याय, ''पोलिटिकल डायरी'' सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली, पेज0 39, 2008
3. डॉ. बजरंग लाल गुप्त, ''सुमंगलम्'' सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 46, 2011

एकात्म मानव दर्शन सम्पूर्ण विकास के मानक के रूप में

डॉ0 रजनी चौबे[1]

भारत की सांस्कृतिक विरासत व्यष्टि और समष्टि के एकाकार स्वरूप को दर्शाती है, यही मानव जीवन के समग्र विकास का निहितार्थ है, परन्तु वर्तमान भारत में भारतीय संस्कृति के ये लक्षण धूमिल पड़ते जा रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक विरासत के वे सूत्र जो सम्पूर्ण समाज को एकाकार करते थे उसमें विदेशी शासन व्यवस्था ने एक अवकाश सा ला दिया है, भारत की स्वतन्त्रता के इतने अन्तराल के पश्चात भी उस रिक्तता को नहीं भरा जा सका है। पाश्चात्य जीवन के रहन-सहन एवं दिखावे के अनुकरण को रोकने एवं भारतीयों को उनकी संस्कृति को आत्मसात करने हेतु प्रेरित करने की आवश्यकता है। उपरोक्त संदर्भ में पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानव चिंतन ही इन समस्याओं का असली समाधान हो सकता है।

दीनदयाल उपाध्याय जी ने भारतीय संस्कृति में समाहित एकात्म मानववाद का प्रतिपादन किया है। दीनदयाल जी ने एकात्म मानववाद को बताने के लिये भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को मानव एकात्म में समाहित कर वास्तविक मानववाद को विश्वधरातल पर लाने की संकल्पना का प्रतिपादन किया। मनुष्य को सुख की अनुभूति चतुर्विध होती है। मनुष्य के चतुर्विध सुख का तात्पर्य है चार अवयव शरीर-मन-बुद्धि और आत्मा का सुख। प्रकट रूप में प्रत्येक मनुष्य की संतुष्टि के भले ही अलग-अलग मानक हों लेकिन आत्म संतुष्टि का मानक अन्य सभी मानकों से ऊपर होता है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य आत्म संतुष्टि के आधार पर ही सभी कार्यों को करता है, एवं आत्म संतुष्टि ही अन्य (यथा शरीर, मन, बुद्धि) की तृप्ति का सर्वोत्तम साधन है। जब तक मनुष्य की सभी क्षुधाओं की तृप्ति नहीं हो जाती उसका सर्वांगीण विकास संभव नहीं हो सकता। पण्डित जी के अनुसार चारों क्षुधाओं के तृप्ति के लिये भारतीय संस्कृति के ये चार पुरुषार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। यही उनके एकात्म चिंतन का आधार हैं, इसकी विशद् व्याख्या करते हुये पण्डित जी कहते हैं कि ''मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर इन चारों का समुच्चय है। उसको टुकड़ों में बाँटकर विचार नहीं कर सकते।''[2] उसी प्रकार भारतीय समाज भी एकाकार है मनुष्य-मनुष्य को बाँटकर किसी समाज और राष्ट्र का सर्वांगीण विकास संभव नहीं हो सकता है।

पण्डित जी के विचार में एकात्म मानववाद किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण विकास एवं उपलब्धि का द्योतक

1. प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

2. पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड-2, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नई दिल्ली, पृ. 45

है, अतः सम्पूर्ण एवं विशिष्ट व्याख्या के लिये सर्वप्रथम व्यक्ति के स्वरूप व समाज एवं तत्पश्चात राष्ट्र के एकात्मता को समझाना आवश्यक है।

सर्वप्रथम एकात्म मानववाद में व्यक्ति पर विचार करते समय चतुर्विध पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं शरीर, मन बुद्धि और आत्मा के समन्वय को समझने की आवश्यकता है। शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा के पारस्परिक सहयोग से चारों पुरुषार्थ एकाकार होकर मनुष्य को सम्पूर्णता का अहसास कराते हैं। दीनदयाल जी ने व्यक्ति के सम्बन्ध को समाज, राष्ट्र, सृष्टि एवं परमेष्टि के साथ एकाकार कर एकात्म मानववाद का प्रतिपादन किया है।

एकात्म मानववाद के सन्दर्भ में चारों पुरुषार्थों का विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

काम - किसी इच्छा अथवा क्षुधा की तृप्ति में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के सम्मिलन से जिस सुख की अनुभूति होती है, उसे भारतीय संस्कृति में काम कहा गया है। परन्तु यदि शरीर, मन, बुद्धि आत्मा में से कोई भी क्षुधा किसी कारणवश असंतुलित हो या स्वस्थ न हो तो पूर्ण सुख की अनुभूति नहीं हो पायेगी, जैसे मनुष्य की किसी क्षुधा की पूर्ति में मन की पूर्ण इच्छा एवं सहयोग होते हुए भी शरीर दुर्बल या रोगग्रस्त हो तो वह मन की इच्छा होने पर भी साथ नहीं दे सकता। ठीक इस प्रकार किसी क्षुधा की तृप्ति में बुद्धि तर्क के आधार पर संतुष्ट नहीं होती या मानसिक विकृति होने पर क्षुधा तृप्ति में सहयोग का अभाव रहेगा तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति के चारों पुरुषार्थ सही एवं संतुलित रूप में सिद्ध नहीं हो सकेंगे। पण्डित जी के अनुसार चारों पुरुषार्थों में से किसी भी पुरुषार्थ की अनदेखी अप्राकृतिक है और किसी एक की भी पूर्ति नहीं होने से मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में मनु ने ठीक ही कहा है ''अकामा वा क्रिया क्वचित्''[1] बिना कामना कोई क्रिया नहीं होती। इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति ही ''एकोऽहं बहुस्याम् की आदि-कामना से हुयी है।''[2] तात्पर्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति में काम सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुरुषार्थ है। मनुष्य के अन्य पुरुषार्थ धर्म, अर्थ एवं मोक्ष की प्राप्ति का पथ काम द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। यद्यपि काम पुरुषार्थ का वेग इतना तीव्र होता है कि सही राह एवं दिशा निर्देश का कार्य बुद्धि करती है। ''बुद्धि के कर्तव्य का वर्णन कठोपनिषद् के पहले अध्याय (वल्ली 3, श्लोक 3) में स्पष्ट रूप से वर्णित है- ''आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेंव तु। बुद्धिं सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव-च।''[3] श्लोकानुसार बुद्धि काम द्वारा दिशाहीन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाती है एवं धर्म के मार्ग पर अग्रसर करती है और मनुष्य को अन्य पुरुषार्थों के साथ एकात्म करती है।

अर्थ - चतुर्विध पुरुषार्थ के अन्तर्गत काम पुरुषार्थ की यथोचित प्राप्ति अर्थ द्वारा ही की जा सकती है।

1. पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन-एकात्म मानव दर्शन, खण्ड-2, विनायक वासुदेव नेने, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुन्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली, पृ. 45
2. वही, पृ0 46
3. एकात्म मानववाद, विनायक वासुदेव नेने, सुरुचि प्रकाशन, पृ. 71-73

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अर्थ एक मात्र वो पुरुषार्थ है जो अन्य पुरुषार्थों के साथ एकात्म होकर मानव व्यक्तित्व का सम्पूर्ण एवं वास्तविक विकास करता है एवं मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है जो उनके जीवन का वास्तविक निहितार्थ है। पश्चिमी सभ्यता में अर्थ की मर्यादा और अन्य पुरुषार्थों के साथ उसके सम्बन्ध का विचार नहीं है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ केन्द्रित समाज एवं राज्य में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त होती जा रही है। क्षणिक तथा तत्कालीन लाभ के लिये मनुष्य, मनुष्य का अहित करने के लिये अशुद्ध आचरण कर रहा है। इसलिये भारतीय चिन्तन का महत्व अधिक बढ़ जाता है कि वह विश्व गुरु बनकर भारत ही नहीं अन्य संस्कृतियों का मार्ग-दर्शन करे और विश्व मानव को एकात्म करे। अतः यहाँ पर पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को आत्मसात करते हुये सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी आर्थिक संरचना एवं अर्थव्यवस्था को विकसित करना होगा जिसमें अर्थ के साथ अन्य पुरुषार्थों को साथ ले चलने का तत्व मौजूद हो। अर्थ पुरुषार्थ की पूर्ति में अन्य पुरुषार्थ को संतुलित रखने के लिये आवश्यक है कि व्यवहारिक धरातल पर व्यक्ति की न्यूतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, जो कि पूर्व प्रचलित रोटी-कपड़ा एवं मकान की आश्वस्ति ही न प्रदान करे अपितु, आज मनुष्य के गरिमापूर्ण जीवन यापन के सन्दर्भ में मानव की बुनियादी न्यूनतम आवश्यकताओं जैसे, केवल भोजन ही नहीं बल्कि संतुलित एवं पौष्टिक भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि की भी पूर्ति करे।

अर्थ के सम्बन्ध में, ''पण्डित दीनदयाल जी के इन विचारों को कैसे एवं कितनी मात्रा में व्यवहार में लागू किया जा सकता है इस दिशा में पूरी गंभीरता से क्रियान्वयन की व्यापक योजना बनानी चाहिए।''[1] यद्यपि आज न्यूनतम आवश्यकताओं की व्याख्या विस्तृत हो गयी है तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें इसमें भारतीय संस्कृति में व्याप्त आचार-विचार को ही आत्मसात करना चाहिए न कि अर्थ की पश्चिम केन्द्रित विचारधारा का अन्धानुकरण करके मनुष्य को अर्थ का दास बना देना चाहिए। हमें इस बात पर बल देना चाहिए कि 'अर्थ मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य अर्थ के लिए'। इस सम्बन्ध में पण्डित जी के इस विचार की महत्ता सर्वाधिक है कि, ''अर्थ के भी दो भाग हैं- मुख्य अर्थ और गौण अर्थ। जो वस्तु जीवन का आधार होती है, अथवा जीवनावश्यक वस्तु का निर्माण करती है उसे मुख्य अर्थ या धन कहा गया है, उदाहरण के लिये भूमि, पशुधन, वस्त्र इत्यादि। इन जीवनावश्यक वस्तुओं का लेनदेन किसी अन्य वस्तु के माध्यम से होता है तो उस विनिमय के साधन को गौण अर्थ या द्रव्य कहा गया है।''[2]

अन्न उत्पादन करने वाला किसान मुख्य अर्थ का उत्पादन करता है और विनिमय के द्वारा प्राप्त द्रव्य से अपनी जीविका चलाता है। इसी प्रकार नौकरी पेशा लोग गौण अर्थ के रूप में द्रव्य प्राप्त कर जीविकोपार्जन करते हैं। पण्डित जी के अर्थ सम्बन्धी पुरुषार्थ, वर्तमान भोग की अतृप्त लालसा की पूर्ति हेतु अप्राकृतिक रूप

1. एकात्म मानववाद, विनायक वासुदेव नेने, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली, पृ0 47
2. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड-3, पृ. 118

से उत्पादन वृद्धि को रोकने में भी सक्षम है। पश्चिम केन्द्रित अर्थव्यवस्था में प्रकृति का शोषण कर प्राकृतिक असंतुलन पैदा किया जा रहा है, जिससे तमाम प्रकार की विनाशकारी प्राकृतिक आपदायें उत्पन्न हो रही हैं। इसका समाधान पण्डित जी के स्वदेशी एवं विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा जो स्थानीय लोगों के स्वावलंबन पर आधारित हो, राज्य एवं केन्द्र सरकार के हाथों की कठपुतली न हो, का अवलम्बन करके किया जा सकता है। ''वे स्वदेशी को प्रतिगामी एवं कालवाह्य संकल्पना मानने वाले विचारों से कतई सहमत नहीं थे।''[1] इसका तात्पर्य है कि राष्ट्र के विकास एवं विदेशी निर्भरता से मुक्ति के लिये स्वदेशी के माध्यम से स्वयं के देश में परिस्थितियाँ उत्पन्न कर अवसर तलाशने होंगे, जो देश की बेरोजगारी एवं गरीबी दूर करने का सशक्त माध्यम बन सके एवं राष्ट्र का आर्थिक विकास भी स्वावलंबी हो सके। अर्थ की अंधाधुंध प्राप्ति एवं भोग विलास की तृष्णा कभी शांत नहीं होती और इस तरह कभी भी किसी व्यक्ति को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थ की विषमता को समाप्त करने एवं असीमित तृष्णा को रोकने के लिये दीन दयाल जी के विचारों का अवलम्बन आवश्यक है ''सम्पत्ति और उसके द्वारा प्राप्त होने वाले भोग विलासों में आसक्ति पैदा हो जाये, तब कहना चाहिए कि सम्पत्ति का प्रभाव पैदा हो गया है। वह व्यक्ति जिस पर केवल पैसे की धुन सवार हो गयी हो, देश, धर्म और जीवन के सुख आदि सब बातों को भूल बैठता है। इस प्रकार विषयासक्त मनुष्य पौरुषहीन होकर अपने एवं दूसरों के विनाश का कारण बना जाता है। विषय तृष्णा की कोई सीमा न होने के कारण विषयासक्त व्यक्ति को सदैव अर्थ का अभाव ही घेरे में रहता है। पौरुषहीनता के कारण अर्थोत्पादन की उसकी क्षमता भी उत्तरोत्तर कम हो जाती है।[2] इसको नियन्त्रित एवं सीमित करने के लिये धर्म के अवलम्बन का निर्देश पण्डित जी ने दिया है।

धर्म - भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। दीनदयाल जी ने चतुर्विध पुरुषार्थ का वर्णन करते हुये इसकी व्याख्या विस्तृत रूप से की है। काम एवं अर्थ पुरुषार्थ भौतिक सुख की अनुभूति देता है, परन्तु मनुष्य की काम एवं अर्थ की मृगतृष्णा व्यक्ति को कुरास्ते पर भटका सकती है तथा इन्द्रियों का गुलाम बनकर मनुष्य अपने जीवन लक्ष्य को भूल जाता है, इसलिये मनुष्य को इस पर नियन्त्रण रखने के लिये धर्म नामक पुरुषार्थ का अनुगमन करना चाहिए। भारतीय संस्कृति के चारों पुरुषार्थ में धर्म की वास्तविक परिकल्पना को समझना एक आम जनमानस के लिये एक दुष्कर कार्य है। साधारण अर्थ में धर्म की परिभाषा लोग अपनी सुविधानुसार करते हैं, जिसमें आडम्बर का भाव भी शामिल होता है। पुरुषार्थ के रूप में भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत, धर्म का आशय कर्तव्य पालन से है। दीन दयाल जी धर्म एवं पंथ में अंतर करते हुए स्पष्ट करते हैं कि धर्म का क्षेत्र पंथ से विस्तृत है। पंथ के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा की उपासना है जबकि धर्म किसी सम्प्रदाय

1. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड-2, एकात्म मानव-दर्शन, विनायक वासुदेव नेने, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली, पृ0 55
2. राष्ट्र चिन्तन, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, पृ. 56

या जाति से आबद्ध नहीं है। सभी पंथ के लिये धर्म की समान परिभाषा है। धर्म का अपना कोई राष्ट्र नहीं होता, धर्म की व्याख्या है, ''यतोअभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' अर्थात् धर्म से केवल निःश्रेयस (मोक्ष) ही नहीं, अपितु ऐहिक अभ्युदय भी अभिप्रेत है और अभ्युदय का अर्थ केवल उदय ही नहीं अपितु, ''अभितः उदय'' - सर्वांगीण और सबकी उन्नति है। धर्म की व्याख्या में अभ्युदय को प्रथम स्थान दिया गया है।

अतः धर्म एक व्यापक अवधारणा है, जो पंथ की सीमाओं से बँधा न होकर, जीवन दर्शन को व्यवहारिक धरातल पर लाकर लोगों को पंथ के आधार पर बाँटने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें जोड़ने का अद्‌भुत मार्ग है। धर्म व्यक्ति को पंथ की सीमाओं से निकालकर विश्व मानव के एकात्म रूप में साकार करता है। दीनदयाल जी ने धर्म के विशद एवं अलौकिक रूप को सबके सामने लाने का प्रयास किया, जो वास्तव में भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये आवश्यक है, क्योंकि आज विश्व में चहुँओर विकृतियाँ व्याप्त हैं। इसके लिये विकृत तृष्णाएँ जिम्मेदार हैं और इन विकृतियों को दूर करने का एकमात्र उपाय धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसको आत्मसात करना है, तभी हमारा जीवन सार्थक होगा एवं हमें वास्तविक सुख की अनुभूति होगी।

मोक्ष - व्यक्ति के चारों पुरुषार्थ में एक प्रक्रियागत सुख की अनुभूति कराते हुए जीवन के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने अथवा असीम सुख की अनुभूति मोक्ष के द्वारा ही संभव है। भौतिक से आध्यात्मिक सुख के आरोहण में मोक्ष मनुष्य को सभी बंधनों से ऊपर उठाकर जीवन का अंतिम लक्ष्य प्रदान करता है। अन्य तीन पुरुषार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति के लौकिक जगत से है परंतु मोक्ष अप्रत्यक्ष एवं परम अनुभूति है। मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि के परस्पर सामंजस्य से संतुलित एवं पूर्ण विकास करते हुए आत्मिक सुख की परम अनुभूति करता है। इसी प्रकार मनुष्य सभी क्षुधाओं से तृप्त होकर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र से परमेष्टि तक संतुलित एवं सर्वांगीण विकास की यात्रा पूर्ण कर सकता है।

पण्डित दीनदयाल जी के चतुर्विध पुरुषार्थ का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यह तथ्य निकलता है कि शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा के पारस्परिक सामंजस्य पर आधारित व्यक्ति का विकास ही उसके परम सुख की अनुभूति है। व्यक्ति से परिवार का, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से सृष्टि और परमेष्टि तक का एक अविछिन्न सम्बन्ध व्यक्ति के चारों पुरुषार्थों को संतुलित कर वास्तविक व्यक्ति का निर्माण करता है और वही एकात्म व्यक्ति समाज से एकात्म होते हैं। समाज के संबंध में यही बात समान रूप से लागू होती है। एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हितों को अपने हितों के समान ही समझेगा तो समाज में व्याप्त सारी कुरीतियाँ एवं विकृतियाँ स्वयंमेव ही समाप्त हो जायेंगी। व्यक्ति का हित समाज का हित होगा एवं समाज का अहित व्यक्ति का अहित होगा जब ये दृष्टिकोण संपूर्ण समाज में व्याप्त हो जायेगा तो समाज पूरी तरह एकात्म हो जायेगा। एकात्म समाज के इस विचार को पण्डित जी ने भारतीय संस्कृति के लक्षणों के साथ समायोजित किया एवं पाश्चात्य समाज व्यवस्था के साथ तुलनात्मक विचार भी प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, पाश्चात्य सभ्यता में जवीन के मात्र एकांगी पक्ष, भौतिक विकास पर जोर दिया जाता है एवं इस हेतु व्यक्ति, व्यक्ति का अहित करने में भी पीछे

नहीं हटता। इसमें अर्थ की प्रधानता ही सबकुछ होती है, परंतु भारतीय संस्कृति में काम, अर्थ, धर्म एवं मोक्ष का आपस में एक दूसरे की निर्भरता की महत्ता को स्वीकार किया गया है जो जीवन के सर्वांगीण विकास में सहायक है।

तात्पर्य है कि एकात्म मानव समाज में व्यक्ति परिवार की इकाई, परिवार समाज की इकाई, समाज राष्ट्र की, राष्ट्र संपूर्ण विश्व की अर्थात् संपूर्ण मानवता की इकाई है यानि एक का अहित सबका अहित, एवं एक का हित एवं विकास सबका हित व विकास होगा। इसी आधार पर संपूर्ण जगत में मानवता की व्याप्ति होगी तथा सर्वांगीण विकास की दिशा निश्चित होगी। पाश्चात्य विचारधाराओं में व्यक्ति एवं समाज के बीच सामंजस्य नहीं अपितु संघर्ष को स्वीकार किया गया है। भारतीय संस्कृति के विविधता में एकता का दर्शन कर सामंजस्य निर्माण करने का जो लक्षण विद्यमान है वही मनुष्य के चारों पुरुषार्थों के एकात्म होने को दर्शाता है और मनुष्य को संवेदनशील मानव बनाता है।

चतुर्विध पुरुषार्थ में एकात्म मानववाद और राजनीतिक व्यवस्था -

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने एकात्म मानव के जरिए एकात्म राष्ट्र के निर्माण का रास्ता दिखाया था। जिस प्रकार व्यक्ति अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा सम्बन्धी क्षुधा को चतुर्विध पुरुषार्थों के माध्यम से तृप्त करता। उसी प्रकार राष्ट्र को सर्वांगीण विकास के लिये इसी प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। राष्ट्र का भी अपना शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा सम्बन्धी क्षुधा होती है, जो वह अपने चतुर्विध पुरुषार्थों के माध्यम से तृप्त करता है। राष्ट्र अपने संविधान के द्वारा अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में पंडित जी कहते हैं कि ''समष्टि हित के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में स्वैराचार में व्यक्ति का विकास नहीं, विनाश है। समष्टि के साथ एकात्मता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है। व्यक्ति ही समष्टि की पूर्णता का माध्यम और माप है। व्यक्ति - स्वातन्त्रय और समाजहित अविरोधी है।''[1] पण्डित जी के एकात्म मानववाद में व्यक्ति का राष्ट्र के साथ जुड़ाव आत्मा का होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ के वशीभूत होकर कार्य नहीं करता बल्कि राष्ट्र की भावनात्मक विचारधारा के साथ राष्ट्र के विकास के लिए कार्य करता है। वास्तव में ऐसे राष्ट्र का सर्वांगीण विकास अवश्यम्भावी है। राष्ट्र की आत्मा का दर्शन उसकी संस्कृति से होता है। दीनदयाल जी राष्ट्र को परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''भूमि, जन और संस्कृति के संघात से राष्ट्र का निर्माण होता है।''[2]

एकात्म मानववाद के आधार पर राज्य व्यवस्था के स्वरूप के बारे में दीनदयाल जी की अवधारणा धर्म आधारित राज्य की थी, उन्होंने लोगों को समान एवं स्वतंत्र अवसर के लिए लोकतंत्र की तथा हर हाथ में रोजगार एवं आर्थिक सम्पन्नता हेतु आर्थिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया। एक राष्ट्र में इन उपायों

1. राष्ट्र चिंतन, पृ0 56, (पण्डित दीनदयाल उपाध्याय)
2. राष्ट्र जीवन की दिशा, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, पृ0 37-38

से एक सक्षम मानव का निर्माण हो सकेगा और एक सक्षम मानव समाज से सक्षम राष्ट्र का निर्माण संभव है।

निष्कर्ष -

एकात्म मानववाद के संबंध में उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारतीय संस्कृति की अनमोल विरासत के आधार पर वर्तमान मानव समाज एवं राज्य में पुनर्निरीक्षण करने की महती आवश्यकता है। भारत ही नहीं वरन् पाश्चात्य विचारधारायें जो केवल जीवन के एकांगी पक्ष का विचार एवं विकास करने पर विशेष जोर देती हैं, उनके लिए भी यह पथ प्रदर्शक है। पूँजीवाद व्यक्ति का आर्थिक व्यक्ति के रूप में पक्षपोषण करता है, लोकतंत्र में व्यक्ति के अधिकारों की बात होती है इसलिये उसमें राजनीतिक पक्ष की बात होती है, समाजवाद आर्थिक समानता की बात करके आर्थिक पक्ष पर ही विशेष बल देता है। भारतीय संस्कृति व्यक्ति के एक पक्ष पर बल न देकर संपूर्ण पक्षों को साथ लेकर चलती है एवं मनुष्य के संपूर्ण पक्ष के विकास पर जोर देती है। पण्डित जी ने एकात्म मानववाद के जरिये भारतीय जनमानस ही नहीं वरन् विश्व जनमानस का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। सारी भागदौड़ एवं अंधानुकरण मनुष्य का स्वयं अपने लिए करता है, लेकिन वह भूल जाता है कि उसका केवल एक पक्ष अर्थ और शारीरिक सुख ही नहीं है अपितु धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के माध्यम से मानसिक, बौद्धिक के साथ ही आत्मीय सुख प्राप्त करना है। पुरुषार्थ उसी के लिए है, इसलिए संपूर्ण चराचर जगत का केन्द्र बिन्दु 'मनुष्य' ही है। इस दर्शन के माध्यम से विश्व में व्याप्त अनेकों विकृतियाँ यथा- भ्रष्टाचार, आतंकवाद, अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी पर लगाम लगाया जा सकता है और एक बार पुनः भारत को विश्व गुरु बनाया जा सकता है।

*****

दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद भारतीय सनातन संस्कृति का प्रतिबिम्ब

ओम प्रकाश दुबे[1]

मनुष्य सुरक्षा, शांति और सुख पाने की दृष्टि से समाज के अंग के रूप में कार्य करता है। इसी उद्देश्य से समाज ने अनेक व्यवस्था की रचना की है। इन व्यवस्था में राजसत्ता एक महत्वपूर्ण अंग है। प्राचीन काल में राजसत्ता नहीं थी, क्योंकि उसकी आवश्यकता नहीं थी। समस्त जनता सत्यनिष्ठ और मानवतावादी थी। आपसी बन्धुभाव से सभी लोग आपस में व्यवहार करते थे। चोरी या किसी प्रकार का अपराध करने वाला व्यक्ति नहीं था। परन्तु धीरे-धीरे जनता में कुछ व्यक्तियों के अन्दर लोभ, मत्सर, द्वेष इत्यादि प्रवृत्तियाँ पैदा हुई, जिसके कारण समाज में असुरक्षा की भावना ने जन्म लिया। समाज में इस असुरक्षा के निदान के लिये जन समूह ने प्रजापति ब्रह्मा से प्रार्थना की कि उनके लिये किसी संरक्षक की नियुक्ति करें। ब्रह्मा ने मनु को इस दायित्व को देकर उत्पन्न किया। मनु मानव समाज के प्रथम एवं आदर्श राजा थे।

राजा मनु ने समाज को आंतरिक संकटों से मुक्त रखने और समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्राप्ति तथा अपने व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक सभी प्रकार की निर्भयता एवं स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिये राजसत्ता की स्थापना की। वास्तव में राजसत्ता की भूमिका इतनी ही सीमा तक रहना आदर्श स्थिति है। हमारे भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा इसी प्रकार रही है। आधुनिक राजनीतिक चिंतकों ने भी यही माना है कि वही सरकार सर्वोत्तम है, जो सत्ता का न्यूनतम प्रयोग करे।

राजसत्ता एक नशा भी है। सत्ताधारी इस नशे के शिकार हो सकते हैं और अपने स्वयं के सुख विलास के लिए जनता का शोषण कर सकते हैं। बाद के दिनों में यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। कुछ राजा निरंकुश और अत्याचारी हुये जिनके विरोध में जनक्रान्ति का विस्फोट हुआ। समानता-स्वतंत्रता-बन्धुता के लिये समाज ने आंदोलन किया। सत्ताधारी के निरंकुश तानाशाह बनने की संभावना को रोकने के लिए लोकतंत्र व्यवस्था का निर्माण हुआ। लोकतंत्र की इस मौलिक व्यवस्था की आत्मा है- जागृत जनशक्ति। यदि सत्ताधारी निरंकुश हो जाय, भ्रष्टाचार और अत्याचार के पथ पर चलना प्रारम्भ करे, तो चुनाव की प्रक्रिया से उनको हटाने का अधिकार जनता को है। ऐसी व्यवस्था को सही ढंग से लागू करने के लिये जनता को जागृत होना चाहिए। लोकतंत्र का प्राणभूत संबंध राजसत्ता से होता है। राजसत्ता को जन केन्द्रित पद्धति से चलाने को ही लोकतंत्र

1. लेखक एवं विचारक, मानव शक्ति, विकास एवं प्रबन्धन में विश्व बैंक एवं अन्य संस्थानों के अन्तर्गत कार्य का दीर्घ अनुभव।

कहते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि लोकतंत्र प्रमुख रूप से एक राजनीतिक प्रक्रिया है।

स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व की विचारधारा मुख्यतः फ्रांस की क्रान्ति के बाद उभर कर आयी। इन तीन शब्दों ने सबको आकर्षित किया और आधुनिक विश्व के उद्घोष बन गये। स्वतंत्रता के साथ ही लोकतंत्र एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समावेश है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने गुण होते हैं और व्यक्ति-व्यक्ति के गुणों में अंतर होना स्वाभाविक है। कठिन परिश्रम, कार्यकुशलता, बौद्धिक क्षमता, एवं प्रतिभा इन सभी गुणों में मित्रता हो सकती है। इस विषमता के कारण ही साम्यवाद का जन्म हुआ। परन्तु इससे भी समानता लाने में सफलता नहीं मिली, क्योंकि यह विचारधारा प्रकृति के विरुद्ध थी। साम्यवाद की विचारधारा को व्यवहारिक रूप देने में अंतर्विरोध का आभास हुआ। समाजवाद चल नहीं सका। अब विश्व मुक्त-बाजार की अर्थ-व्यवस्था का आधार लेने लगा है। यह अधिक दिन तक चल पाएगा या नहीं इसमें आशंका है।

लोकतंत्र में व्यक्ति को स्वतंत्र तो माना गया है, किन्तु उसका विकास पूँजीवादी व्यवस्था के साथ शोषण और केन्द्रीकरण के साधन के रूप में हुआ। शोषण मिटाने के लिये समाजवाद का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा को ही नष्ट कर दिया। आज विश्व किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। उसे मार्ग नहीं दीख रहा है कि वह क्या करे। आज वे लोग एक सही मार्ग की तलाश कर रहे हैं। अतः उनका अन्धानुकरण करना हमारे लिये घातक हो सकता है। इस परिस्थिति में हमारी दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर जाती है। राष्ट्रीय दृष्टि से हमें अपनी संस्कृति पर विचार करना होगा, क्योंकि यह हमारी अपनी संस्कृति है। स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ संबंध होता है। यदि संस्कृति का विचार नहीं किया तो स्वराज्य की लड़ाई स्वार्थी एवं पदलोलुप लोगों की एक राजनीतिक लड़ाई मात्र रह जायेगी। स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा। इस अभिव्यक्ति में हमारा विकास भी होगा और हमें आनन्द की अनुभूति भी होगी।

अब संसार तीसरे विकल्प की खोज कर रहा है। उसके सामने हिन्दू जीवन-दर्शन एवं पद्धति एक मात्र विकल्प है। हिन्दू जीवन-पद्धति एकात्म जीवन प्रणाली है। उसमें न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का विचार है साथ ही साथ मन एवं बुद्धि के सुसंस्कारों का भी ध्यान रखा गया है। उसे अभ्युदय, समुत्कर्ष जैसे शब्दों में व्यक्त किया गया है। व्यक्ति के विकास एवं पतन के लिये मन को ही कारण माना गया है। इसीलिये मन के संस्कारों का ध्यान रखकर ही हिन्दू जीवन-पद्धति में परिवार रचना और सोलह संस्कार जीवन के अंग बनाये गये हैं। बुद्धि को प्रगल्भ बनाने के लिये परिवार, गुरुकुल, पर्व एवं सामाजिक उत्सवों की देश-काल-परिस्थिति के अनुसार व्यवस्था की गई है। हिन्दू जीवन-पद्धति में व्यक्ति के विकास के साथ-साथ समाज में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करके प्रगति की ओर बढ़ने की पूर्ण व्यवस्था है। उसमें लोकाभिमुख व्यक्ति एवं समाज का स्वाभाविक विकास निहित है। किसी विचारधारा की सफलता व्यक्ति एवं समाज के चरित्र पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से आज हिन्दू जीवन दर्शन ही इस आवश्यकता को पूर्ण करने में समर्थ है। आज की चुनौतियों का सामना भी हिन्दू जीवन-दर्शन ही सफलता पूर्वक कर सकता है। इसका कारण है कि हिन्दू ने सम्पूर्ण धरती को

धरतीमाता कहकर उसकी उपासना का मार्ग स्वीकार किया है। स्वतंत्रता और समानता के साथ बन्धुत्व की भावना को भी महत्व दिया जाना चाहिए। सबके अन्दर एक ही तत्व आत्म-ज्योति के रूप में विद्यमान है। यही मानव जीवन-दर्शन में विविधता में एकता का बोध कराने वाला आदर्श है।

हिन्दू जीवन-पद्धति सबसे प्राचीन है। युगों से पुराने वेद मंत्रों का पाठ हिन्दू आज भी करता है। रोमन, ग्रीक, मिश्र और अन्य सभ्यतायें अब इतिहास की बात बन चुकी है। केवल भारतीय सभ्यता ही आज अपने प्रारंभिक स्वरूप को लेकर विद्यमान है। इसका मुख्य कारण है, आज भी हिन्दू दर्शन के अनुसार यहां व्यवहार बना हुआ है। केवल दर्शन मात्र लोगों को आकर्षित नहीं करता तदनुसार आचरण करके ही समाज में शान्ति और समरसता स्थापित हो सकती है। मानव समाज एक पूर्ण इकाई है। उसको खण्डित मानकर उस पर खण्डशः विचार करना लाभदायक नहीं हो सकता। भारतीय दर्शन समग्रता का दर्शन है। वह समग्रता का विचार रखते हुये उन्नति चाहता है। सामान्यतः हिन्दू का लक्ष्य परमात्मा से एक रूप होना होता है। यही भाव उसमें सबके प्रति आत्मभाव जागृत करता है। पं. दीन दयाल उपाध्याय का विचार था कि व्यवहार के साथ हिन्दू शास्त्रों का अच्छा ज्ञान भी होना चाहिए, जिससे हम अन्य लोगों के सामने अपने शास्त्रों का वैज्ञानिक स्वरूप बताकर उसकी प्रमुख विशेषताओं का प्रतिपादन कर सके। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि धर्म एवं विज्ञान में परस्पर विरोध है, टकराव है, क्योंकि विभिन्न सम्प्रदायों एवं पंथों की पुस्तकों में जो लिखा है उसका विज्ञान से कोई मेल नहीं दिखता और न विज्ञान के निष्कर्षों के साथ कोई संगति बैठती है। किन्तु ठीक से अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि हिन्दू धर्म की इस विषय में अन्य मतों के साथ कोई तुलना नहीं की जा सकती। जिन बड़े-बड़े निष्कर्षों पर आधुनिक विज्ञान अब पहुंच रहा है उन्हें हमारे प्राचीन ऋषियों ने अपने शास्त्रों में पहले ही बता दिया है। भारतीय जीवन-पद्धत्रति का विज्ञान के साथ कोई टकराव नहीं है। सत्य तो यह है कि समूची हिन्दू विचारधारा तर्क संगत, स्वाभाविक, पर्यावरण के प्रति जागरूक वैज्ञानिक है।

आज राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टि से आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति की गहनता से विश्लेषण करें। भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का और अध्यात्मिक दर्शन का समन्वय है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है। हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है, किन्तु उसके मूल में निहित एकता की खोज करना हमारा सदैव प्रयत्न रहता है कि वह जगत में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूंढ़ निकाले, उसके नियमों का पता लगाये और तदनुसार व्यवहार के नियम बनाये।

एकात्म मानववाद के प्रवर्तक पं. दीनदयाल उपाध्याय पूर्णतः भारतीयता के प्रतीक थे। उनका रहन-सहन, वेष-भूषा तथा विचार और चिन्तन पूरी तरह भारतीय था। उन्होंने अपने अपूर्व चिन्तन द्वारा भारत को एक नई विचारधारा दी। उनका मानना था कि प्रत्येक देश की अपनी विशेष ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति होती है और उस समय उस देश के जो भी नेता और विचारक होते हैं, वे उस परिस्थिति में से देश को आगे बढ़ाने की दृष्टि से मार्ग निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार जो लोग विदेशी जीवन तथा विचारों को भारत

की प्रगति का आधार बनाकर चलाना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि यह विदेशी विचार एक परिस्थिति-विशेष तथा प्रकृति-विशेष की उपज है। यह सार्वलौकिक नहीं है। उन पर पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता, प्रकृति एवं संस्कृति की अमिट छाप है। यह विचार करना आवश्यक है कि जितनी भी बातें दुनिया में हुई हैं, ये सबकी सब ऐसी नहीं है कि उनका संबंध देश विशेष के साथ ही हो। वहाँ भी मनुष्य रहते हैं और मनुष्य के चिन्तन और क्रिया कलापों में से जो चीज पैदा होती है, उसका बाकी मनुष्यों के साथ भी कुछ न कुछ संबंध हो सकता है। इसलिये मनुष्य ने जो कुछ ज्ञान अर्जित किया है, उसके लाभ से हम बिल्कुल आँख बन्द करके अनजान बन जाय, यह भी समझदारी की बात नहीं होगी। उसमें से हमारे अनुकूल सत्य को स्वीकार करना और असत्य को छोड़ना ही बुद्धिमानी होगी। जहाँ तक शाश्वत सिद्धान्तों और स्थायी सत्यों का संबंध है, हमें जो हमारा है उसे समय के अनुकूल और जो बाहर का है उसे देश के अनुकूल बनाकर प्रगति के पथ पर चलाना चाहिए।

विविधता में एकता अथवा एकता का विविध रूपों में व्यक्तिकरण ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय विचार है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें तो फिर विभिन्न सत्ताओं के बीच संघर्ष की संभावना समाप्त हो जायेगी। यदि संघर्ष होता है तो वह प्रकृति अथवा संस्कृति का द्योतक नहीं बल्कि विकृति का द्योतक है। मानव जीवन में भारतीय संस्कृति ने काम, क्रोध आदि विकारों को भी स्वीकार किया है, किन्तु इन सब प्रवृत्तियों को अपनी संस्कृति अथवा शिष्ट व्यवहार का आधार नहीं बनाया। समाज में चोर और डाकू भी होते हैं। उनसे अपनी और समाज की रक्षा भी करनी चाहिए, किन्तु उनको हम अनुकरणीय मानव व्यवहार की आधारभूत प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि मानकर नहीं चल सकते। सृष्टि में जैसे संघर्ष दिखता है, वैसे ही सहयोग भी विद्यमान होता है। संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच परस्पर पूरकता को पहचान कर, उसमें एकता की भावना का विकास करना और उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना संस्कृति और उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती और न ही उसकी ओर बुरी दृष्टि रखती है। बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा तथा उसको अधिक सुखमय एवं हितकर बनाने वाले हैं, उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रवृत्तियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है। मनुष्य की प्रवृत्ति में दोनों बातें हैं। मनुष्य की प्रकृति में क्रोध भी है और लोभ भी है। मनुष्य की प्रकृति में मोह भी है और प्रेम भी है। मनुष्य की प्रकृति में त्याग भी है और तपस्या भी है। यह सब मनुष्य के जीवन के अंग हैं।

मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर चारों का समुच्चय है। हमें उसको टुकड़ों में बाँट करके विचार नहीं करना चाहिए। आज जो समाज में समस्यायें पैदा हो रही है, उनका कारण यह है कि हम मनुष्य के एक-एक अंग पर अलग-अलग विचार करते हैं। कुछ वर्गों में समृद्धि आने के बाद भी वे सुखी नहीं हैं, जिसके कारण विचारकों को लग रहा है कि उनके जीवन-पद्धति में कहीं न कहीं कोई मौलिक गलती अवश्य है। ये गलती है वे मनुष्य का पूर्ण विश्लेषण नहीं कर पाये। भारतीय संस्कृति में मानव की प्रगति का तात्पर्य शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा, इन चारों की समान रूप से प्रगति है। बहुत से लोग कहते हैं कि भारतीय संस्कृति में केवल आत्मा के उत्थान की बात कही गई है। यह सत्य नहीं है। यह भी कहा जाता है कि हम शरीर, मन और

बुद्धि के बारे में नहीं सोचते। सच्चाई यह है कि हम आत्मा के बारे में विचार जरूर करते हैं, किन्तु शरीर को नहीं भुलाते। उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा है ''नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः'' - अर्थात् दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार की सूक्ति है कि ''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'' अर्थात् शरीर धर्म आचरण का प्रथम साधन है। मूलतः अन्य लोगों के विचार से हमारा अन्तर यह है कि उन्होंने शरीर को साध्य माना है और हमने उसे साधन समझा है। भौतिक आवश्यकताओं के महत्त्व को हमने स्वीकार किया है, किन्तु उसको सर्वस्व नहीं माना है। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी विविध कामनाओं एवं इच्छाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्त्तव्य रूप में चार पुरुषार्थ की बात कही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके आचरण से व्यक्ति को आनन्द प्राप्त होता है। यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है, किन्तु अकेले उसके बारे में सोचने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के जीवन की पूर्णता के साथ मर्यादित जीवनचर्या पर विशेष विचार किया गया है। उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है। उसकी सभी आवश्यकताओं की प्राप्ति करने की व्यवस्था की है। किन्तु यह ध्यान रखा गया है कि एक आवश्यकता को पूरा करने के प्रयत्न में दूसरी आवश्यकता को जन्म न दे सके। इसी उद्देश्य से चार पुरुषार्थों के विकास के लिये जरूरी बताया है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानववाद की सोच है जो हमारे आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन दोनों है।

भारतीय इतिहास और संस्कृति का दीनदयाल जी को बहुत गहन अध्ययन था। इसी में उन्होंने ''स्वत्व'' की खोज की थी। प्रकाश सूर्य का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है, शीतलता जल का धर्म है। इन्हीं गुणधर्मों के कारण इनका अस्तित्व है। इसी प्रकार मनुष्य के ''स्वत्व'' के दस गुण हमारे मनीषियों ने निर्धारित किये हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धीः, विद्या, सत्य, अक्रोध। ये दस गुण ही मानव का धर्म है और उसके जीवन का सर्वस्व। संसार में कौन है जो इस मानव धर्म यानी स्वत्व को नकार सकता है। धर्म के प्रति अटूट निष्ठा और भारतीय मनीषा की इस चैतन्य बुद्धि के प्रति गहरी आस्था पंडित जी के मन मस्तिष्क में स्थान बना लिया। उन्होंने इन गुणों को अपने तपस्वी जीवन की दहकती भट्ठी में तपाया और स्वत्व को प्राप्त किया। उनकी निश्चित धारणा थी कि हमने आज अज्ञानी और अविवेकी बनकर धर्म को रिलीजन, मजहब, पंथ, जमात आदि की संज्ञा देकर पुकारना शुरू कर दिया है, जिनमें व्यापक विचार और स्वतंत्र चिंतन को स्थान नहीं मिलता। धर्म तो व्यापकतम निष्ठा का स्वरूप है जिसमें प्राणिमात्र का ''स्वत्व'' स्थिर है। इस प्रकार उपाध्याय जी ''स्वत्वदर्शी'' धर्म से जुड़े थे और साथ ही उस सांस्कृतिक परम्परा से जिसमें स्वतंत्र चिंतन का खुला क्षेत्र सबको उपलब्ध था और जो एक वैश्विक संस्कृति की जनक थी। धर्म की इस आस्था ने उपाध्याय जी को भारतीय चिन्तन की ओर न केवल मोड़ा ही वरन् सात्विक धर्म श्रद्धालु बना दिया। जनसंघ में भी उन्होंने इस प्रवृत्ति को और मजबूत किया। उनका कहना था कि राजनीति तो मानव-व्यवहार के क्षेत्र में एक छोटा भाग

है। पंडित जी का कहना था कि मानव-मन को सुधारना ही समस्त विश्व कल्याण के लिये एक सशक्त नारा होना चाहिए, जिसे भारतीय संस्कृति ने उद्घोषित किया है।'' किन्तु राजनीति आज प्रबल होकर सत्ता के सहारे देश के जीवन पर छा गई है और उसकी गति चिन्तन तथा कार्यान्वयन ने जन-जन के जीवन को दूषित कर दिया है। आज की राजनीति हजारों प्रकार के रोगों से ग्रस्त है। रोग निवारण के बाह्य उपचार तो बहुत हो रहे हैं, किन्तु मनुष्य का तन-मन बेहाल है। मनुष्य निरन्तर मन से चलता आया है जब तक वह शुद्ध नहीं सब व्यर्थ है। मन का शुद्धीकरण धर्म, अध्यात्म, ''स्व'' रूप चिन्तन तथा त्याग से होता है, सत्ता और भोग से नहीं। मन अध्यात्म के चिन्तन और मनन से ही शुद्ध होगा। समाज को आर्थिक, सामाजिक, व्यवहारिक और राजनैतिक समस्यायें जनों के परिष्कृति मन से ही दूर की जा सकती है। मानव-मन ही सबका नियंता होता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का रहन-सहन, वेष-भूषा सभी कुछ साधारण था। वे धन संचय करना या आवश्यकता से अधिक खर्च करना अनुचित समझते थे। इस सादगी में छिपा हुआ उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वे बौद्धिक रूप से कई विषयों के आचार्य थे।

सन् 1965 में उपाध्याय जी बैंगलोर प्रवास पर गये थे। नहाने के बाद सूखने के लिये फैलाये हुये कपड़ों को देखकर यादवराव जोशी चकित रह गये। धोती और बनियान बुरी तरह फटी थी, कई जगह गांठे लगी थीं उन्होंने पुराने कपड़े हटाकर नये कपड़े मंगा दिये। नये कपड़े देखकर दीनदयाल जी ने जोशी जी से कहा- पुराने कपड़े अभी कुछ दिन और चल सकते थे। नये कपड़े मँगवाने की क्या आवश्यकता थी?

सन् 1963 में दीनदयाल जी अमेरिका यात्रा पर जाने वाले थे। स्वयंसेवकों ने उन्हें भेंट देने की इच्छा प्रकट की। पंडित जी ने कोई भी वस्तु नहीं लेने की बात कही। स्वयंसेवक के आग्रह करने पर कुछ अच्छी पुस्तकें देने को कहा, जिन्हें यात्रा के समय पढ़ूँगा। विमान छूटने के पहले एक स्वयंसेवक ने दस हजार रुपये का चेक उनकी जेब में डाल दिया। स्वदेश लौटने पर वह चेक उन्होंने गुरु दक्षिणा में समर्पित कर दिया।

एक बार उपाध्याय जी गुरु जी के साथ मुम्बई से नागपुर जा रहे थे। गुरु जी प्रथम श्रेणी में थे और दीनदयाल जी तृतीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। किसी कार्य से गुरु जी ने उन्हें अपने पास बुला लिया। बातों-बातों में दो स्टेशन गुजर गये। अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी, तब टी.टी.ई. को खोजकर उससे कहा- मैंने तृतीय श्रेणी का टिकट लेकर दो स्टेशन तक प्रथम श्रेणी में यात्रा की है, जो किराया बनता है उसका भुगतान करना चाहता हूँ। टी.टी.ई. ने उनकी सादगी और ईमानदारी पर आश्चर्यचकित होकर कहा- कोई बात नहीं है। अब आप अपने स्थान पर जाकर बैठ जाइये। दीन दयाल जी ने कहा- ये बेईमानी है, इससे रेल को हानि होगी और राष्ट्र को भी हानि होगी। टी.टी.ई. ने उचित किराया लेकर रसीद दिया और उनकी ईमानदारी पर आश्चर्यचकित होकर अन्य मित्रों से चर्चा की। एक दिन उत्तर प्रदेश के प्रान्त प्रचारक भाऊराव देवरस ने पंडित जी से किशोरों एवं तरुणों के लिये कुछ प्रेरक पुस्तकें लिखने की चर्चा की। दूसरे दिन चुनार के संघचालक के मकान में लगातार 16 घंटे बैठकर पंडित जी ने एक पुस्तक ''चन्द्रगुप्त मौर्य'' लिख दिया। देवरस जी प्रतिभा पर मुग्ध हो गये। उसी क्रम में पंडित जी ने एक दूसरी पुस्तक ''आदि शंकराचार्य'' लिखा। इसी प्रकार जब

मराठी में डॉ. हेडगेवार की 500 पृष्ठ की जीवनी का प्रकाशन हुआ, तो बाबा साहब आप्टे ने दीनदयाल जी से उसके हिन्दी अनुवाद का प्रस्ताव रखा। तीन महीने बाद पंडित जी ने स्वयं उस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया। दिन-रात दौरा करते हुये भी इतनी अच्छी मराठी सीख लेना और हिन्दी में अनुवाद करना सरल काम नहीं था। पंडित जी की प्रसिद्ध पुस्तक है- ''भारतीय अर्थनीति की दिशा''। प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह उर्फ रज्जू भैया ने इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुये उनसे पूछा कि अर्थशास्त्र का इतना अध्ययन आपने कब किया। पंडित जी ने कहा कि इस पुस्तक को लिखने से पहले मुझे अर्थशास्त्र की लगभग पाँच सौ पुस्तकें पढ़नी पड़ी।

दीनदयाल जी सत्ता, धन, प्रसिद्धि, प्रचार ऐसी सभी क्रियाकलापों से दूर रहकर आजीवन जन जागृति के कार्य में लगे रहे। भारतीय जीवन मूल्यों-जिनमें लोकतंत्र भी एक है, के प्रति अविचल निष्ठा, समाज के प्रति दायित्व का बोध, अनुशासन, सहकारिता, देशकार्य के लिये त्याग और समर्पण की प्रवृत्ति, संकटों से जूझने का साहस और संगठन कुशलता के गुणों को जनमानस में पहुँचाकर वे पुराने अधिष्ठान पर एक नये भारत के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध थे। राष्ट्र निर्माण में पं. दीनदयाल उपाध्याय के अतुलनीय योगदान की सराहना देश के सभी माननीय नेताओं ने की है। भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष डाक्टर श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कानपुर में आयोजित जनसंघ के प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन में गर्व-पूर्वक कहा था- ''यदि मुझे दो दीनदयाल और मिल जाय, तो मैं देश का नक्शा ही बदल दूँगा।''

पं. दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर, 1916 ई0 में जयपुर-अजमेर रेल लाइन पर स्थित धनकिया स्थान पर अपने नाना पं. चुन्नीलाल शुक्ल के घर पर हुआ था। पं. दीनदयाल उपाध्याय आजीवन अविवाहित और आजन्म तपस्वी थे। वे मूलतः अध्यवसायी चिन्तक थे। उनका समाज जीवन में प्रवेश राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से हुआ। पं. नेहरू के मंत्रिमण्डल में डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी सहयोगी थे, किन्तु कांग्रेस की नीतियों के विरोध में उन्होंने त्याग पत्र दे दिया और एक पृथक राष्ट्रीय राजनीतिक दल के गठन का प्रस्ताव अपने समान सोच वाले मित्रों के बीच रखा। डॉ. मुखर्जी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरु गोलवरकर जी से मिले और वे कुछ अच्छे कार्यकर्त्ता दिये और उनमें एक थे पं. दीनदयाल उपाध्याय। उपाध्याय जी ने भारत के शाश्वत चिरन्तर मूल्यों तथा जीवन के आदर्शों पर आधारित दल की स्थापना के लिये लखनऊ में एक कार्यकर्त्ता सम्मेलन बुलाया और 21 सितम्बर 1951 ई0 को उनके प्रयास से ''भारतीय जनसंघ'' की स्थापना हुई। बाद में दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय सम्मेलन में सर्वसम्मति से डॉ. मुखर्जी ''भारतीय जनसंघ'' के प्रथम अध्यक्ष और उपाध्याय जी महामंत्री चुने गये। वे 1952 से 1967 तक भारतीय जनसंघ के महामंत्री रहे। भारतीय जनसंघ की स्थापना के दूसरे वर्ष ही डॉ. मुखर्जी का देहावसान हो गया। दल का पूरा भार उपाध्याय जी कंधों पर आ पड़ा। इस समय उनकी आयु 36 वर्ष थी। उन्होंने अपने प्रेरक नेतृत्व में देश को एक स्वस्थ और राष्ट्रवादी राजनीतिक विकल्प प्रदान किया। उन्होंने ''एकात्म-मानववाद'' का राजनीतिक प्रतिपादन किया जो उनके मौलिक चिन्तन की उपज थी।

दिसम्बर 1967 में दीन दयाल जी को भारतीय जनसंघ का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उन्होंने कालीकट में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था- ''जिनके सामने रोटी का सवाल है, जिनके पास रहने के लिये मकान नहीं है, तन ढंकने के लिये कपड़ा नहीं है और मैले-कुचैले बच्चों के बीच जो दम तोड़ रहे हैं- गाँवों और शहरों के उन करोड़ों निराश भाई-बहनों को सुखी और सम्पन्न बनाना हमारा व्रत है।'' ''आर्थिक योजनाओं तथा आर्थिक प्रगति की माप समाज की ऊपर की सीढ़ी पर पहुँचे व्यक्ति से नहीं बल्कि सबसे नीचे की सीढ़ी पर विद्यमान व्यक्ति से होगा। गाँवों में जहाँ माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ हैं, वहाँ जब तक हम आशा और पुरुषार्थ का संदेश नहीं पहुँचा पाएंगे, तब तक राष्ट्र की चेतना जागृत नहीं कर सकेंगे।'' ''स्वतंत्रता तभी फल-फूल सकती है, जब तक वह राष्ट्रीय संस्कृति को पोषण देने के लिये आहार जुटाती रहती है .....। हमारी संस्कृति के अनुसार परिवार, समुदाय, ग्राम पंचायत, स्थानीय शासन एवं राज्य- ये सभी संस्थायें सम्पूर्ण राष्ट्र की और सम्पूर्ण मानवता की अंग हैं। हमारा नाता संघर्ष नहीं बल्कि भाईचारे का है।'' ''भिन्न-भिन्न राजनीतिक पार्टियों को अपने एक सिद्धान्त, आदर्श और दर्शन का क्रमिक विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। ..... पार्टी का यह दर्शन केवल घोषणा-पत्र तक ही सीमित न रह जाय, इसलिये उन्हें कार्य रूप में बदलने के लिये जुट जाना चाहिये।'' ''हम कर्मभूमि भारत में कर्म करने के लिये पैदा हुये हैं- हड़ताल, छुट्टी एवं बन्द का नारा लगाने के लिये नहीं। हमें हराम की रोटी और हराम का राज नहीं चाहिए। हमें तो जनता का राज और पसीने की रोटी चाहिए। हमारा यही विश्वास हमारे भव्य भारत का सपना साकार करेगा, तभी हमारा व्रत पूरा होगा।''

सन्दर्भ पुस्तकें :

1. राष्ट्र चिन्तन - लेखक पं0 दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ।
2. एकात्म मानववाद सिद्धान्त - लेखक पं0 दीन दयाल उपाध्याय प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
3. एकात्म मानव दर्शन - एक अध्ययन : लीखक दत्तोपंत ठेंगड़ी, सुरूचि प्रकाशन, दिल्ली।
4. पं0 दीनदयाल उपाध्याय : विचार-दर्शन - सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली।

राष्ट्रीय सुरक्षा और मीडिया : जम्मू-कश्मीर समस्या व धारा 370 के संदर्भ में

डॉ0 नीरेन्द्र कुमार उपाध्याय[1]

भारत की आजादी के 70 वर्षों के बाद भी आज जम्मू-कश्मीर की समस्या राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए चुनौती बनी हुई है। राज्य की मुख्य समस्याओं तथा धारा 370 को लेकर वास्तविकता को प्रस्तुत करने और उससे देश की सुरक्षा के संभावित खतरों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास इस शोध पत्र में किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य राज्य की समस्याओं को समूल समाप्त करने के आवश्यक तत्वों, विलय को लेकर खड़े किये जाने वाले प्रश्नों का समाधान तथा धारा 370 को लेकर भ्रम और उससे हो रहे या होने वाली समस्याओं को रेखांकित करना है, जिससे इसके समाधान के लिए एक मत का निर्णय हो सके।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न पुस्तकों तथा पत्रिकाओं का अध्ययन किया गया। समीक्षात्मक व्याख्या के लिए विद्वान लेखकों के लेखों के आधार पर विषय को समझने और इंटरनेट पर उपलब्ध सामग्री के सहयोग लेने का प्रयास किया गया है। ताकि संबंधित विषय के साथ न्याय किया जा सके।

जम्मू-कश्मीर की समस्या को लेकर भारतीय राजनीति में असमंजस की स्थिति बनी हुई है। वैश्विक राजनीतिक मंच पर भी दुविधा देखी जा रही है। भारत की स्वतंत्रता को विभाजन और लाखों निर्दोषों के रक्तरंजित काले इतिहास के रूप में याद किया जायेगा। आजादी की कहानी लिखने वालों ने साम्राज्यवादी अंग्रेजों और भारत के थके हुए सत्तालोलुप नेताओं की बातों पर विश्वास कर लिया था, जिसका दुष्परिणाम जम्मू-कश्मीर की समस्या के रूप में आज भी देश को भुगतना पड़ रहा है। स्वायत्तता की आड़ में स्वतंत्रता का स्वप्न पाले विद्रोही नेताओं तथा उनके समर्थकों को जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय लॉर्ड माउंटबेटन की तरह पच नहीं रहा है। पाँच हजार वर्ष पुराने कश्मीर का इतिहास, कल्हण की राजतरंगिणी और कवि कालिदास की कृतियों में कश्मीर जीवंत हो उठा है। महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद, सिक्ख गुरु श्री हरगोविंद राय तथा आद्य शंकराचार्य का संबंध इस धरती से रहा है। माता वैष्णों देवी, बाबा अमरनाथ तथा पवित्र कैलाश मानसरोवर ने इस पूरे क्षेत्र को पल्लवित पुष्पित किया है। धरती का स्वर्ग कहे जाने वाले जम्मू-कश्मीर को अलगाववादियों, आतंकवादियों तथा वोट बैंक की राजनीति करने वाले दलों ने विवादास्पद रूप में प्रस्तुत करने का उपक्रम किया।

विलय पर अनावश्यक प्रश्न खड़े करना, देशद्रोही अलगाववादी नेताओं को प्रश्रय देना तथा धारा

1. स्वतंत्र पत्रकार एवं लेखक

370 की मनमाने ढंग से व्याख्या करना और इसकी आड़ में सत्ता केंद्रित राजनीति ने जम्मू-कश्मीर का सर्वाधिक नुकसान किया है। बेरोजगारी, अशिक्षा, अपराध, सुरक्षा तथा विकास की ओर से ध्यान हटाने के लिए जनता को भ्रमित कर भारतीय सुरक्षा को खतरा पैदा कर दिया गया है। इस प्रकार की विद्रोही गतिविधियों का लाभ मुख्य रूप से पाकिस्तान और चीन उठा रहे हैं। जम्मू-कश्मीर राज्य भारत की आंतरिक व बाह्य सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण राज्य है। पहले पाकिस्तान और अब उसके साथ चीन की कुदृष्टि जम्मू-कश्मीर पर लगी हुई है। इसे गंभीरता से लेना होगा। भारतीय मीडिया में भी दो प्रकार की धारायें काम कर रही हैं। एक, राष्ट्रीय विचारों वाली मीडिया जिसने राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे गंभीर विषय के साथ ही जम्मू-कश्मीर मामले पर भी भारतीय पक्ष को न केवल मजबूती से रखा बल्कि समय-समय पर अलगाववादियों का वास्तविक चेहरा भी जनता को दिखाने की कोशिश की। दूसरी ओर मीडिया में एक ऐसा भी वर्ग है जो जम्मू-कश्मीर मामले पर विवादित सोच को प्रश्रय देने वाला है। स्वतंत्र भारत के अब तक के इतिहास में कश्मीर सर्वाधिक विवादित राज्य के रूप में प्रस्तुत किया गया। विलय, विलगाव और विवाद के भंवर में कश्मीर को उलझाया जा रहा है। पूर्ण विलय पर प्रश्न खड़े किये जा रहे हैं। राज्य में देशद्रोही शक्तियाँ संगठित अपराध का पर्याय बन गई हैं। राजनीतिक दलों ने धर्मनिरपेक्षता की मैली चादर ओढ़ ली है। देश का मुकुट कहा जाने वाला राज्य काँटों का ताज बन गया है। सम्पूर्ण जम्मू-कश्मीर राज्य विकास से वंचित क्यों है, केंद्रीय सरकार की समस्त योजनाओं का पैसा कब और कहाँ व्यय हुआ, कोई पूछने वाला नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि भारत के कई राज्य ऐसे हैं जो विकास की दौड़ में काफी पीछे हैं, उनकी अनदेखी कर कश्मीर को ही विशेष राज्य का दर्जा क्यों बहाल है? राज्य में झंडा फहराना अपराध हो गया है। बे सिर-पैर की दलीलें दी जा रही थीं। समस्याओं से ग्रसित जम्मू-कश्मीर राज्य के भविष्य का निर्णय करना होगा। यह तभी संभव होगा जब केंद्र और राज्य सरकार की अंतः शक्ति राष्ट्र और राज्य के साथ समरस होगी।

कश्मीर समस्या – जम्मू-कश्मीर का कुल क्षेत्र 2,22,236 वर्ग किमी. का है। पाकिस्तान के कब्जे में 83,294 वर्ग किमी., जिसमें उसके द्वारा 1960 में चीन को दिये गये 5,180 वर्ग किमी. का क्षेत्र भी शामिल है यानि पाकिस्तान के पास भारत की कुल जमीन आज 78,114 वर्ग किमी. है। चीन ने 1962 में 37,555 वर्ग किमी. जमीन हड़प ली तथा पाकिस्तान से मिली जमीन को मिलाकर 42,735 वर्ग किमी. चीन के कब्जे में है। इस प्रकार दोनों देशों ने भारत की कुल 1,20,849 वर्ग किमी. जमीन पर कब्जा कर लिया है। वर्तमान में जम्मू कश्मीर राज्य जो भारत के पास है वह 1,01,387 वर्ग किमी. क्षेत्र ही बचा है। राज्य को लेकर राष्ट्रीय सुरक्षा पर संकट आने के पर्याप्त कारण हैं। दोनों पड़ोसी देश चीन और पाकिस्तान की दृष्टि इस क्षेत्र पर लगी हुई है और आंकड़े इस बात के गवाह हैं कि मौका मिलने पर कब्जा करने की कोशिशें हुई हैं।

पहली शताब्दी के प्रारंभिक समय में कश्मीर का क्षेत्र हिन्दुओं, उसके बाद बौद्धों का मुख्य केंद्र था।

19वीं शताब्दी तक यहाँ शैव मत प्रभावी रहा।[1] 19वीं शताब्दी के मध्य तक भैगोलिक रूप से कश्मीर हिमालय और पीर पंजाल पर्वतीय क्षेत्र के रूप में जाना जाता था। जम्मू-कश्मीर आज भारतीय शासन वाले क्षेत्र (जम्मू, कश्मीर घाटी और लद्दाख) के रूप में अंकित है।[2] भारत में बचे हुये जम्मू-कश्मीर के 1,01,387 वर्ग किमी. के सीमा क्षेत्र के 1,25,48,928 जनसंख्या वाले राज्य की 60.7 प्रतिशत शिक्षा दर और 124 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. जनसंख्या घनत्व है, जबकि 2001 की जनगणना में यह 100 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. था।[3] कश्मीर में आंतरिक सुरक्षा, आतंकवाद तथा विद्रोही गुटों की देश विरोधी गतिविधियों के अलावा मानवाधिकार उल्लंघन तथा असमान विकास की बड़ी समस्या है। इन सबके अलावा राज्य के विलय को लेकर न केवल राज्य के भीतरी तत्वों बल्कि देश के अन्य हिस्सों के तथाकथित मानवाधिकारवादियों के द्वारा जनमत संग्रह की बात कर देश की सुरक्षा और राज्य की शांति व्यवस्था को अस्थिर करने का समय-समय पर प्रयास किया जाता रहा है। पूरा राज्य तीन क्षेत्रों कश्मीर, जम्मू और लद्दाख में प्राकृतिक रूप से बँटा हुआ है। कश्मीर समस्या की नींव वहीं पड़ गई थी जब महाराजा हरि सिंह ने पं. जवाहर लाल नेहरू को कश्मीर विरोधी आंदोलन में भाग लेने जाते समय गिरफ्तार कर लिया था। बाद में लेडी माउंटबेटन के हस्तक्षेप से पंडित नेहरू दिल्ली वापस आये थे।[4] 1948 में पं. नेहरू ने शेख अब्दुल्ला संग खड़े हो कश्मीरियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बात कही थी, जिसके आधार पर आज तक कश्मीर में अलगाववाद की आवाज उठ रही है। पं. नेहरू के शेख के साथ खड़े होने के अवसर पर शेख ने कहा था, ''मन तु शुदी, तू मन शुदी, ता कस न गोयद, मन देगराम तू देगरी।'' अर्थात् हम और आप मिलकर एक हो गए हैं, अब कोई यह नहीं कह सकता कि हम अलग हैं।[5]

आतंकवाद - कश्मीर की समस्या के मूल में पाकिस्तान, पाकिस्तान पोषित आतंकवादी, पाकिस्तान समर्थक अलगाववादी हैं। अब पाकिस्तान का नारा है- ''कश्मीर को आजाद करो, भारत को बर्बाद करो'', ''यहाँ चलेगा निजामे मुस्तफा''।[6] विभिन्न आतंकवादी घटनाओं में मारे गये लोगों पर एक दृष्टि-

1. ए.एल. बाशम, द वंडर दैट वाज़ इंडिया, पीकॉडर, 2005
2. विकीपिडिया जे एंड के
3. भारत की जनगणना 2011
4. भीम सिंह, पैंथर पार्टी के सदस्य, धारा 370 और स्वायत्तता, परीक्षा मंथन, 2000-2001
5. दैनिक जागरण, इलाहाबाद, लाल चौक की सियासत
6. इंद्रेश कुमार, धधकता कश्मीर, फोरम फॉर इंटीग्रेटेड नेशनल सिक्युरिटी, नई दिल्ली

आतंकवादी घटनाओं में मृतकों का विवरण 1988-2010[1]

o'k	?kVuk;a	Ukkxfjd	lsuk@ lqj{kk cy d tokuksa	vkradoknh	dqy
1988	390	29	1	1	31
1990	3095	862	132	183	1177
1995	4479	1161	297	1338	2796
2000	2835	842	638	1808	3288
2005	—	531	218	1000	1739
2010	—	29	58	191	278

स्रोत : गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट

सेना के मनोबल पर प्रहार - आज कश्मीर में सुरक्षा व्यवस्था चिंताजनक है। पुलिस थानों, सेना और सुरक्षा बलों की गाड़ियों, सेना के अधिकारियों के मेस पर हमले हो रहे हैं। सेना व बीएसएफ के जवानों की आतंकवादियों के खिलाफ कार्यवाही में दुर्घटनावश या आतंकियों के मददगारों को पकड़ने के दौरान मारे गए लोगों को लेकर कश्मीर सहित भारत के शेष भाग में तथाकथित मानवाधिकारवादियों के द्वारा हाय तौबा मचा दी जाती है। उनकी माँग है कि घाटी से सेना हटा ली जाए और अफस्पा को हटा दिया जाए। यह सेना के जवानों का मनोबल तोड़ने वाला तथा कश्मीर से आतंकवादियों के सफाये के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाला व्यवहार है, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए घातक सिद्ध होगा। घाटी में वहाबी मस्जिदों और संस्थाओं की बाढ़ सी आ गयी है। जहाँ परंपरागत सूफी इस्लाम को मानने वाले अधिक हैं, घाटी के शहरी युवाओं में कट्टरपंथियों के कारण सूफी प्रभाव कम हो रहा है। स्थानीय प्रशासन की लापरवाही और इन संस्थाओं को बड़ी मात्रा में मिल रही विदेशी मदद भी इनके बढ़ने के कारण हैं। नौजवान अब अपने को पाकिस्तान के साथ न जोड़कर मुस्लिम देशों से जोड़ने को आतुर दिख रहा है, ऐसा बड़े पैमाने पर वैश्विक इस्लामिक संगठनों की आर्थिक मदद और उकसाने के कारण हो रहा है। परिणामस्वरूप, अब कश्मीर के नौजवान आतंकवाद की ओर कदम बढ़ा रहे हैं। कश्मीरी समाज में महिलाओं की स्वतंत्रता व गीत-संगीत का माहौल रहा है। लेकिन बदले वातावरण में न केवल

1. गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट

महिलाओं के गीत-संगीत को जबरन बंद करा दिया गया बल्कि उन पर बहुत सी पाबंदियां लगा दी गयी हैं।[1]

धार्मिक भेदभाव - कश्मीर घाटी की कुल आबादी 4 मिलियन है, जिसमें 95% मुस्लिम, 4% हिन्दू व 1% अन्य धर्मावलंबी है, जबकि जम्मू की आबादी 3 मिलियन है, जहाँ 30% मुस्लिम, 66% हिन्दू व 4% अन्य हैं और लद्दाख की आबादी 2.5 मिलियन (2,50,000) है जहाँ 46% मुस्लिम, 50% बौद्ध, 3% अन्य धर्मों के लोग रहते हैं।[2] जम्मू में मुस्लिम 18 लाख (गुज्जर, राजपूत, पहाड़ी), हिन्दू 38 लाख (डोगरा, सिक्ख, अन्य), अन्य 5 लाख शराणार्थी हैं जिन्हें आज तक नागरिकता नहीं मिली है। कश्मीर घाटी में मुस्लिम 47 लाख (शिया, कश्मीरी, पहड़ी, गुज्जर), हिन्दू 3 लाख भगाये गये कश्मीरी पंडित, जो जम्मू और देश के अन्य भागों में शरण लिये हुए हैं, अन्य 40 हजार से अधिक (सिक्ख, डोगरा, कश्मीरी पंडित)। लद्दाख में बौद्ध 1.60 लाख, अन्य 10 हजार (डोगरा, सिक्ख, पंडित लेह जिले में), मुस्लिम 1.30 लाख (शिया, कारगिल जिले में) आबादी है।[3] कश्मीर में धार्मिक भेदभाव के अनेकों मामले हम सबके सामने हैं। कश्मीर सहित देश के विभिन्न स्थानों पर शरणार्थी जीवन व्यतीत करने को मजबूर हिन्दुओं की सुध लेने वाला कोई नहीं है।

कश्मीर में केवल हिन्दू ही नहीं बल्कि बौद्धों, शिया, अहमदिया, नूरबख्शी मुस्लिमों के अलावा इसाइयों को भी प्रताड़ित किया जा रहा है। वहाबियों ने कश्मीर घाटी के शिया मुस्लिमों जो कि सुन्नी मुसलमानों के साथ भारत में शांति से रहते हैं के खिलाफ ईराक और सीरिया की देखा-देखी घृणा और वैमनस्य का व्यवहार किया जा रहा है। शियाओं को कश्मीर में मोहर्रम का जुलूस निकालने की अनुमति नहीं है। जम्मू-कश्मीर अकेला ऐसा राज्य है जहाँ इसकी अनुमति नहीं दी गई है। यही नहीं अहमदिया बिरादरी के लोग भय और डर के वातावरण में रहते हैं। मई 2012 में कश्मीर के प्रधान मुफ्ती ने राज्य सरकार से पाकिस्तान की तरह अहमदियों को गैर मुस्लिम बिरादरी घोषित करने के लिए विधेयक पास करने को कहा। पाकिस्तान के कब्जे वाले भारतीय राज्य कश्मीर के बाल्टिस्तान में कारगिल के अंग तुर्तुक क्षेत्र में वहाबियों ने नूरबख्शी मुस्लिमों को परेशान कर रखा है।[4]

आर्थिक पिछड़ापन - कश्मीर के विकास के लिए भारत सरकार बड़ी मात्रा में धन उपलब्ध कराती है। केंद्र सरकार की ओर से जम्मू-कश्मीर राज्य को 90% सहायता व 10% ऋण के रूप में दिया जाता है। राज्य पर केंद्र का ऋण आज लगभग 4000 करोड़ रुपये हो गये हैं। इतनी सहायता पाने के बाद भी राज्य सरकार की वित्तीय स्थिति गंभीर है। राज्य की आंतरिक आय प्रति वर्ष 3600 करोड़ रुपये है। राज्य के सरकारी

1. आलोक बंसल, जम्मू एंड कश्मीर : पेरिल्स ऑफ वहाबाइजेशन एंड वे अहेड, ऑर्गनाइजर, 2 फरवरी 2014
2. बीबीसी 2003, द फ्यूचर ऑफ कश्मीर
3. इंद्रेश कुमार, धधकता कश्मीर, फोरम फॉर इंटीग्रेटेड नेशनल सिक्युरिटी, नई दिल्ली
4. आलोक बंसल, जम्मू एंड कश्मीर : पेरिल्स ऑफ वहाबाइजेशन एंड वे अहेड, ऑर्गनाइजर, 2 फरवरी, 2014

कर्मचारियों का वेतन 9000 करोड़ रुपये, पेंशन का वार्षिक खर्च 1800 करोड़ तथा महंगाई भत्ते का खर्च 725 करोड़ रुपये है। प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने कश्मीर को 24000 करोड़ रुपये का विशेष पैकेज दिया था।[1] पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में राज्य को क्रमशः 86.8%, 64.1% तथा 96.7% अर्थात तीनों पंचवर्षीय योजनाओं का कुल 86.13% सहायता राशि दी गई थी। सातवीं योजना में कश्मीर को 1838.68 करोड़ रुपये सहायता दी गई थी। जबकि उक्त योजनाओं में आंध्र प्रदेश को क्रमशः 57, 53 व 63 प्रतिशत, असम को 78.6, 49.2 व 75.8 प्रतिशत, केरल को 54.5, 48.1 व 67 प्रतिशत, पं. बंगाल को 73.4, 46.8 व 50.8 प्रतिशत तथा उ.प्र. को 52.4, 53.1 व 63.9 प्रतिशत राशि सहयोग के रूप में दी गयी थी।[2] जम्मू-कश्मीर राज्य में केंद्र से प्रतिव्यक्ति मदद राष्ट्रीय औसत से अधिक रही है। 1989-90 में केंद्रीय मदद का 2.57 प्रतिशत जम्मू-कश्मीर पाता था, जबकि उसकी आबादी 0.8 प्रतिशत है। प्रतिव्यक्ति मदद 1122 रुपये थी।[3] आज के संदर्भ में यह कई गुना बढ़ गई है। प्रति परिवार लगभग चार हजार रुपये की सहायता राशि केंद्र द्वारा दी जाती है। यदि यह पैसा खर्च न करके केवल नागरिकों को बांट दिया जाए तो उनका जीवन स्तर ऊपर उठ सकता है। कश्मीर के समग्र विकास के लिए केंद्र सरकार की योजनाओं को लागू करने के साथ ही राज्य सरकार की नीतियों को भी पारदर्शी बनाना होगा। राज्य में विकास की असमानता तथा केवल कश्मीर घाटी तक केंद्रित होने से राज्य के लोगों में रोष व्याप्त है। बेरोजगार नौजवानों को पैसे देकर उनकी गरीबी और बेकारी का फायदा कुछ विद्रोही नेता उठाते हैं। अभी ज्यादा दिन नहीं हुआ जब हमने पत्थरबाजी की घटना और उसके पीछे के अर्थशास्त्र को मीडिया के माध्यम से देखा, सुना और पढ़ा गया। इस घटना की खबर छपने के बाद पूरे देश ने एक स्वर से भर्त्सना की थी।

कश्मीर विलय - भारत की आजादी के बाद सरदार पटेल के प्रयास से 561 राज्यों ने भारत में विलय को स्वीकार कर लिया था, किन्तु कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने ऐसा नहीं किया। पाकिस्तानी सैनिक कबाइलियों के साथ मिलकर जब श्रीनगर की ओर बढ़े तब महाराजा हरि सिंह ने खतरे के निकट देख भारत सरकार से मदद मांगी जिसके लिए भारत में विलय का होना जरूरी था। 26 अक्टूबर 1947 को भारत में विलय पत्र पर हस्ताक्षर किया। भारत के गवर्नर जनरल माउंटबेटन को संबोधित अधोहस्ताक्षरी पत्र में महाराजा हरि सिंह ने लिखा-

मेरे पास भारत से सहायता के लिए आग्रह करने के अलावा कोई और विकल्प नहीं है। स्वाभाविक है, मेरे द्वारा मांगे गये सहयोग को राज्य के भारत में विलय के बिना मदद नहीं दे सकते। तदनुसार, मैंने वैसा ही करने का निर्णय किया है और मैंने आपकी सरकार को विलय से संबंधित दस्तावेज स्वीकृति के लिए संलग्न

1. दैनिक जागरण, इलाहाबाद संस्करण
2. रिपोर्ट ऑफ द जम्मू एंड कश्मीर कमीशन ऑफ इंक्वायरी, 1968, गजेंद्रगडकर रिपोर्ट
3. नवभारत टाइम्स, 15 सितम्बर, 1991

कर दिया है। महाराजा हरि सिंह ने पत्र के अंत में जो कि महत्वपूर्ण है लिखा है कि - ''भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 जो कि यह कहता है कि 15 अगस्त 1947 से भारत एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य स्थापित होगा और भारत सरकार अधिनियम 1935 के विलोपन के अतिरिक्त अनुकूलन और परिवर्तन का ब्यौरा गवर्नर जनरल के आदेश से भारत गणराज्य पर लागू होगा। भारत सरकार अधिनियम, 1935 जो कि गवर्नर जनरल के द्वारा ग्रहण किया गया है, यह व्यवस्था करता है कि एक भारतीय राज्य विलय के दस्तावेजों के साथ जो कि राज्य के शासक के द्वारा दिया गया हो, भारत में विलय कर सकता है। अतः मैं, श्रीमान् इंदर महेंदर राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्री हरि सिंह जी जम्मू-कश्मीर नरेश तथा तिब्बत देशाधिपति जम्मू-कश्मीर के शासक अपनी प्रभुसत्ता मेरे कहे अनुसार विलय का दस्तावेज कार्यान्वित किया जाए।''[1] भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन ने विलय की स्वीकृति को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया- मैं विलय के दस्तावेजों को स्वीकृत करता हूँ। दिनांक, 27 अक्टूबर 1947।[2]

यह सत्य है कि महाराजा हरि सिंह ने भारत के कश्मीर का विलय सीमा पार हमलों के बाद किया। लॉर्ड माउंटबेटन के साथ 01 नवम्बर 1947 की एक मीटिंग में मो. अली जिन्ना ने दावा किया कि, कश्मीर का भारत में विलय दंगों के कारण हुआ। लॉर्ड माउंटबेटन ने जवाब दिया, ''वास्तव में, विलय दंगों के कारण हुआ, लेकिन दंगा पाकिस्तानी कबाइलियों ने किया, और भारत उसके लिए जिम्मेदार नहीं था।''[3]

26 अक्टूबर 1947 को जब महाराजा हरि सिंह ने जम्मू-कश्मीर के साथ विलय पत्र पर हस्ताक्षर किया था तो उसके साथ भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन के नाम पत्र में रक्षा, विदेश मामले, संचार और मुद्रा संबंधी विषय भारत सरकार को सौंपते हुए शेष विषयों पर कानून बनाने का अधिकार स्वयं के पास रखा था। यह उनका व्यक्तिगत निर्णय राजशाही के नाते था। जिसे जिन्ना ने स्वीकार करते हुए कहा था कि जम्मू-कश्मीर के बारे में कोई भी निर्णय केवल महाराजा हरि सिंह ही कर सकते हैं, वही संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न हैं और जम्मू-कश्मीर पर उनका स्वामित्व निर्विवाद है। दूसरा तथ्य, 17 नवम्बर 1952 को जम्मू-कश्मीर संविधान सभा (जिसका गठन महाराजा हरि सिंह ने 1939 में किया था) ने राजशाही को समाप्त कर दिया था। अतः उसके साथ ही महाराजा हरि सिंह के सभी अधिकार स्वतः समाप्त हो गये थे। महाराजा का कश्मीर का सशर्त भारत में विलय भी नवम्बर 1952 में संपूर्ण विलय में बदल गया।[4]

जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि, हम, जम्मू-कश्मीर राज्य के लोग

1. आदर्श सेन आनंद, भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, जर्नल आफ द इंडियन लॉ इंस्टीट्यूट वॉल्यूम 43, अक्टूबर-दिसम्बर 2001, एक्सेशन ऑफ जे एंड के स्टेट हिस्टोरिकल एंड लीगल पर्सपेक्टिव
2. वही
3. वही
4. भीम सिंह, पैंथर पार्टी के सदस्य, धारा 370 और स्वायत्तता, परीक्षा मंथन, 2000-2001

यह निश्चय करते हैं कि इस राज्य के भारत में विलय जो कि 26 अक्टूबर 1947 को किया गया का अनुसरण करते हैं, भारत संघ के अंग के रूप में राज्य के संबंधों को परिभाषित करने हेतु। जम्मू-कश्मीर राज्य की विधान सभा ने राज्य के संविधान की अनुच्छेद 3 के तहत एक प्रस्ताव पास किया जो कि, जम्मू-कश्मीर राज्य भारत संघ का अभिन्न अंग है और रहेगा।''[1]

जम्मू-कश्मीर व धारा 370 - जम्मू कश्मीर राज्य को भाग ख श्रेणी में रखा गया है। अनुच्छेद 1 में विलय के कार्य को असंदिग्ध रूप से विधिक प्रभाव देते हुए घोषणा की गई है कि राज्य भारत के राज्य क्षेत्र का भाग है, और अनुच्छेद 370 भी स्वयं राज्य पर लागू होगा, शेष अनुच्छेदों का लागू होना राज्य सरकार के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा अवधारित किया जायेगा।[2] धारा 370 के प्रावधान के अनुसार, जम्मू-कश्मीर में भारत के संविधान का कोई कानून लागू करने के लिए प्रदेश विधान सभा की सहमति आवश्यक है। और भारत के राष्ट्रपति ने वहाँ अब तक जो 47 अध्यादेश लागू किये हैं, उन पर राज्य की सहमति ली गई थी। वास्तव में कश्मीर को भारत के संविधान के भाग 21 अनुच्छेद 370 में विशेष राज्य का दर्जा अस्थायी रूप से प्राप्त है। विशेष राज्य के तहत कश्मीर को अपना संविधान रखने और भारत के संविधान के बहुत से प्रमुख अनुच्छेदों को लागू करने का अधिकार है। 27 जून 2000 को राज्य में एक प्रस्ताव पारित कर निम्नलिखित मांग की गई-

1. भारत के संविधान के भाग 21 में लिखे अस्थायी शब्द को हटा कर विशेष शब्द जोड़ा जाए।
2. 1953 के पहले की स्थिति को पुनः लागू किया जाए।
3. राज्य में सदरे-रियासत और वजीरे-आलम होंगे जिसमें सदरे-रियासत को राज्य विधान सभा तय करेगी।
4. संघ सेवा संवर्ग के सभी अधिकारी हटा लिये जायेंगे और राज्य अखिल भारतीय सेवा के समतुल्य अपने अधिकारी नियुक्त करेगा।
5. राज्य कैग व निर्वाचन आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर रहेगा, लेकिन उच्चतम न्यायालय के अधिकार के बारे में कुछ नहीं कहा गया है।
6. पूर्व के आदेश को निरस्त करने के लिए कुल 13 मुख्य सिफारिशें हैं, जो कि केंद्र सरकार ने 1953 के पहले आदेशित किया था।
7. अनुच्छेद 254, 262 व 263 को राज्य पर लागू नहीं किया जाना चाहिए।

उपरोक्त मांग में कश्मीर में 1953 के पहले की स्थिति को लागू करने की सिफारिश की गई है।

1. आदर्श सेन आनंद, भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, जर्नल ऑफ द इंडियन लॉ इंस्टीट्यूट, वॉल्यूम 43, अक्टूबर-दिसम्बर 2001, एक्सेशन ऑफ जे एंड के स्टेट हिस्टोरिकल एंड लीगल पर्सपेक्टिव
2. डी.डी. बसु, भारत का संविधान, वाधवा एंड कं., 1999

1975 से 1982 तक शेख अब्दुल्ला की सरकार थी उस समय जम्मू-कश्मीर से संबंधित आदेश संख्या 100-101(1975), 103-106(1976) और 108 (1977) के द्वारा राष्ट्रपति अध्यादेश प्रदेश में लागू हुए, वे सब राज्य की विधान सभा की पूरी सहमति से हुए। उस समय कोई विवाद नहीं उठा था। लेकिन, फारुख अब्दुल्ला ने कहा था कि यह आदेश जबरदस्ती लागू किये गये थे।[1] गोपालस्वामी अयंगर जो कि भारत की पहली कैबिनेट में बिना पोर्टफोलियो के मंत्री और धारा 370 के प्रमुख निर्माणकर्ताओं में से थे, और नेहरू की सहमति से शेख अब्दुल्ला के अलावा जम्मू-कश्मीर विधानसभा के दो सदस्यों मिर्जा अफजल बेग और मौलाना मसूदी के साथ मिलकर धारा 370 के मसौदे के महत्वपूर्ण अंग पर काम कर रहे थे। हालांकि, अक्टूबर 1949 में शेख अब्दुल्ला और अय्यंगर के बीच धारा 370 के कुछ भागों को लेकर टकराव या मतभेद की स्थिति थी। पटेल इस मामले पर कुछ भ्रम में थे और वे इस बात से सशंकित थे कि, ''राज्य भारत का अंग होगा'' और न ही राज्य भारत के मूल अधिकारों व राज्य के नीति निर्देशक तत्व को मान्यता देगा। वे धारा 370 के प्रारूप को लेकर जागरूक और इस बात के गवाह थे।[2]

आजादी के बाद 1952 तक कश्मीर में पैतृक राजतंत्र रहा। तब राजा हरि सिंह ने शेख अब्दुल्ला को प्रधानमंत्री नियुक्त किया था। 1953 से सितम्बर 1963 तक बख्शी गुलाम मोहम्मद प्रधानमंत्री रहे। उनके बाद 1964 में गुलाम मोहम्मद सादिक प्रधानमंत्री बने। 30 मई 1964 को संविधान संशोधन के जरिये प्रधानमंत्री और सदरे रियासत की पदवी को बदल कर क्रमशः मुख्यमंत्री और राज्यपाल कर दिया गया।[3] 1958 में कैग और अखिल भारतीय संवर्ग का प्रसार राज्य तक कर दिया गया। 1966 में लोकसभा के लिए जम्मू-कश्मीर से प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य आने लगे। 1968 में सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता (अनुच्छेद 135 व 139 को छोड़कर) भी हो गयी।[4]

धारा 370 पर विद्वानों व राजनीतिज्ञों के मत - कश्मीर के मामले में माउंटबेटन की निजी राय उनके वक्तव्य से ही पता चलती है, ''पाकिस्तान मैंने बनवाया था। मेरी इच्छा थी कि उसके साथ कश्मीर जोड़कर उसे और मजबूत बनाया जाए।''[5] धारा 370 विरोध की नींव पर तैयार किया गया था। मौलाना हसरत मोहानी ने बड़े ही उग्र होकर धारा 370 का विरोध किया, विरोधी पक्ष के रुख को देखते हुए श्री अय्यंगर ने स्पष्ट किया कि उक्त प्रावधान अस्थायी और परिवर्तनीय है।[6] डॉ0 अम्बेडकर ने विरोध करते हुए कहा था,

1. भीम सिंह, पैंथर पार्टी के सदस्य, धारा 370 और स्वायत्तता, परीक्षा मंथन, 2000-2001
2. अमिताभ मट्टू, द हिन्दू, 6 दिसम्बर 2013, अंडरस्टैंडिंग आर्टिकल 370
3. हस्तक्षेप, राष्ट्रीय सहारा, अगस्त 2002
4. डॉ. भगवान दास, प्रतियोगिता दर्पण, जून 2000, संविधान का अनुच्छेद 370 एवं जम्मू-कश्मीर की स्थिति
5. कुप्प. सी. सुदर्शन, लोकहित प्रकाशन, 2010, पाकिस्तान के निर्माण की व्यथा-कथा
6. सी.ए. डिबेट्स, वोल्युम 10

संविधान में इस प्रकार का प्रावधान देश की एकता एवं अखंडता के लिए घातक होगा।[1] प्रसिद्ध स्तंभकार ए.जी. नूरानी ने 370 के तहत स्वायत्ता का समर्थन करते हुए इसको हटाने का विरोध किया।[2] रफी अहमद किदवई ने शेख अब्दुल्ला की जनमत संग्रह की बात पर कहा था, जितने भी शरणार्थी (हिन्दू महाजिर) पंजाब से उजड़ कर आ रहे हैं उसे वादी में बसा देंगे फिर देखेंगे तुम्हारी रायशुमारी का क्या होगा।[3] जनसंघ के संस्थापक श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कश्मीर में परमिट का विरोध किया था, साथ ही विशेष राज्य का दर्जा देने का विरोध करते हुए कहा था कि, एक देश में दो प्रधान, दो विधान, दो निशान नहीं चलेगा।[4] पत्रकार से बात करते हुए डॉ. कर्ण सिंह ने कहा था कि, जम्मू-कश्मीर की स्वायत्ता एक जटिल मुद्दा है। जम्मू-कश्मीर की परिस्थिति अद्भुत है और इसके कई कारण हैं। इसके लिए हमें इतिहास में जाना होगा और अलग-अलग विश्लेषण करना होगा।[5] दक्षिण एशिया मामलों के विशेषज्ञ डॉ. अमिताभ मट्टू के अनुसार, कश्मीर मामले पर बन रहे अंतर्राष्ट्रीय माहौल का भरपूर लाभ उठाना चाहिए और अपने हितों को सामने रखकर ही अपनी नीतियाँ बनानी चाहिए।[6] जम्मू-कश्मीर के पूर्व राज्यपाल श्री जगमोहन के अनुसार, धारा 370 बनाये रखने की माँग का मकसद अलग है। यह माँग एक चतुर रणनीति की उपज है, जिसका उद्देश्य मुख्य धारा से कटे रहना, एक पृथक राज्य बनाना, एक अलग झंडा फहराना, एक मुख्यमंत्री की जगह एक प्रधानमंत्री रखना और एक राज्यपाल की जगह सदरे रियासत रखना है। इसके पीछे न तो जनहित की भावना है, न शांति व प्रगति की इच्छा और न ही विविधता के बीच सांस्कृतिक एकता प्राप्त करने कोई चाह ही है, बल्कि इसके पीछे नए अभिजात वर्गों और नए शेखों की स्वार्थ सिद्धि करने की इच्छा है। धारा 370 में द्वि-राष्ट्रवाद सिद्धांत निहित है और राज्य में सांप्रदायिकता के बीज बोने वाला है।[7]

वर्तमान राजनीतिक दलों में भाजपा, शिवसेना व अकाली दल को छोड़कर कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, नेशनल कांफ्रेंस, पीडीपी, हुर्रियत, जेडीयू, राजद, सपा, बसपा, आआपा आदि पार्टीयाँ धारा 370 को समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं। इसके पीछे राज्य में हिंसा भड़कने, सांप्रदायिक ताकतों के बढ़ने आदि तर्क दिये जाते

1. गौरीनाथ रस्तोगी, इतवारी पत्रिका (राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर) 6 जनवरी 1991, व्हाई आर्टिकल 370 शुड बी डिलीटेड
2. इंडियन एक्सप्रेस, 11 अप्रैल 1991
3. हम हिन्दुस्तानी-कश्मीर हिन्दुस्तान का माई हिन्दुस्तान फाउंडेशन समिति, नई दिल्ली
4. दैनिक जागरण, इलाहाबाद, लाल चौक की सियासत
5. वही
6. दैनिक जागरण, इलाहाबाद, लाल चौक की सियासत
7. नवभारत टाइम्स, 15 सितम्बर 1991, जम्मू-कश्मीर के पूर्व राज्यपाल श्री जगमोहन की पुस्तक के अंश, माई फ्रोजन टर्बुलेंस इन कश्मीर, एलाइड पब्लिशर्स लि0, नई दिल्ली

हैं। वास्तव में राजनीतिक दलों ने कश्मीर समस्या का हल निकालने के गंभीर प्रयास नहीं किये। विलय पर प्रश्न उठाने वाले नेता सच को स्वीकार नहीं करना चाहते या फिर मामले को उलझाये रहना चाहते हैं।

विवाद को जन्म देने वाली है वार्ताकारों की रिपोर्ट - भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने 13 अक्टूबर 2010 को जम्मू-कश्मीर की समस्याओं को समझने, वहाँ के लोगों से सतत् बातचीत करने और भविष्य के कार्यक्रम तैयार करने के लिए तीन सदस्यीय समूह को नियुक्त किया, जिसके अध्यक्ष जाने-माने पत्रकार दिलीप पडगांवकर थे। अन्य दो सदस्यों में सूचना आयुक्त प्रो. एम.एम. अंसारी और दिल्ली नीति समूह के ट्रस्टी प्रो. राधा कुमार थे। 11 महीने में कश्मीर के 22 जिलों के विभिन्न वर्गों के लगभग 800 लोगों से मिल कर 50 पेज के संलग्नकों सहित 176 पेज की रिपोर्ट पेश की। वास्तव में जिस रिपोर्ट को 21वीं सदी में जम्मू-कश्मीर की जनता की आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर तैयार कहा जा रहा है के अध्ययन की आवश्यकता है। रिपोर्ट की प्रमुख अनुशंसायें निम्नलिखित हैं-

1. नियंत्रण रेखा और अंतर्राष्ट्रीय सीमा के आर-पार जनता, साजो सामान और सेवाओं की बाधा रहित आवाजाही तत्परता से सुनिश्चित की जाय। सीमा के दोनों ओर के प्रतिनिधियों की एक संयुक्त सलाहकार समिति एवं संयुक्त संस्थायें बनें जो संयुक्त क्षेत्र के विकास की योजना बनायें। इसके लिए न केवल भारत के अलगाववादी समूहों बल्कि कथित आजाद जम्मू-कश्मीर सरकार, पाकिस्तान तथा चीन सरकार को वार्ता के लिए सहमत करना होगा। वार्ताकारों ने पीओके के बदले पीएके (पाकिस्तान प्रशासित क्षेत्र) लिखा है।
2. धारा 370 बनी रहनी चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 370 के शीर्षक अस्थायी शब्द को हटाकर विशेष शब्द रखा जाए।
3. नेहरू-शेख समझौते को आधार मान कर सन 1952 के बाद राज्य में लागू हुए संविधान के अनुच्छेदों और सभी केंद्रीय अधिनियमों की समीक्षा के लिए संवैधानिक समिति बनाई जाए तथा अनुच्छेद 370 के अंतर्गत प्रदान स्वायत्ता को भंग करने वाले केंद्रीय कानून वापस लिए जायें।
4. अखिल भारतीय सेवाओं के लिए जा रहे अधिकारियों का अनुपात धीरे-धीरे कम करते हुए राज्य की सिविल सेवा से लिए जाने वाले अधिकारियों की संख्या बढ़ायी जाए।
5. गवर्नर और मुख्यमंत्री पद के लिए उर्दू पर्यायवाची शब्दों का इस्तेमाल किया जाए जो क्रमशः सदरे रियासत और वजीरे आजम होता है।
6. राज्यपाल की नियुक्ति के लिए राज्य सरकार राष्ट्रपति को तीन नाम भेजेगी। इनमें से किसी को राज्यपाल नियुक्त कर सकेंगे।
7. संसद राज्य के लिए तब तक कानून नहीं बनायेगी जब तक कि देश की आंतरिक-बाह्य सुरक्षा अथवा महत्वपूर्ण आर्थिक हित प्रभावित न हो रहे हों।

8. दक्षिण और मध्य एशिया के बीच जम्मू-कश्मीर एक सेतु है, यह स्थापित करने के लिए आवश्यक उचित उपाय किये जायें।
9. सेना को आवासीय व कृषि क्षेत्रों से हटाया जाए तथा बैरक में वापस भेज दिया जाए। अशांत क्षेत्र का दर्जा हटाया जाए। जनसुरक्षा अधिनियम में संशोधन किया जाए तथा सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम (अफस्पा) को वापस लिया जाए।
10. नियंत्रण रेखा के आर-पार सभी मार्गों को खोला जाए, व्यापार हेतु ही नहीं, अपितु नागरिक आवाजाही के लिए भी बहु-प्रवेश परमिट जारी किये जाएं, सीमा के आर-पार रेल लाइनों और सड़क परियोजनाओं को पूरा करने में तेजी लायी जाए तथा नियंत्रण रेखा के दोनों ओर पर्यटन को बढ़ावा दिया जाए।
11. जितना शीघ्र हो सके भारत सरकार और हुर्रियत के बीच संवाद आरंभ किया जाय और इसे अबाधित रखा जाए। भारत सरकार हुर्रियत के संवाद से उभरे बिंदुओं पर संवाद के लिए पाकिस्तान और पाकिस्तान नियंत्रित जम्मू-कश्मीर सरकार को तैयार करना चाहिए।
12. पत्थर मारने वालों और राजनीतिक बंदियों को रिहा किया जाए, जो आतंकवादी हिंसा छोड़ने को तैयार हों उन्हें क्षमा किया जाए, हथियार चलाने का प्रशिक्षण लेने नियंत्रण रेखा के पार गए कश्मीरियों की वापसी सुनिश्चित हो तथा उक्त सभी का पुनर्वास किया जाए।[1]

इस समिति की रिपोर्ट की यदि समीक्षा की जाए तो यह कश्मीर समस्या के समाधान की अपेक्षा अलगाववाद और अलगाववादियों को प्रोत्साहन प्रदान करती हुई प्रतीत होती है। इस रिपोर्ट में विरोधाभास और देश से कश्मीर को अलग करने के सारे तत्व मौजूद थे।

मीडिया की भूमिका - भारतीय मीडिया के तीनों संस्करणों की राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मामलों में मिश्रित भूमिका दिखायी देती है। प्रिंट मीडिया जम्मू-कश्मीर समस्या और धारा 370 को लेकर खबरें तथा विद्वान स्तंभकारों के विचारों को प्रमुखता से प्रकाशित किया है। मुद्दों को जनता के सामने लाने तथा राज्य के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक विषयों पर समय-समय पर न केवल खबरों का प्रकाशन या प्रसारण किया बल्कि विशेषज्ञों की राय को भी सामने लाने का प्रयास किया। यह भी कहने में संकोच नहीं होगा कि मीडिया के कुछ वर्गों ने देशहित पर विचारधारा को ज्यादा महत्व देने का भी प्रयास किया है। यह वर्ग यथास्थिति बनाये रखने की वकालत करता है। सोशल मीडिया पर कश्मीर को लेकर विचारों में साम्यता दिखती है। फेसबुक, ट्विटर तथा ब्लागों पर कश्मीर को भारतीय राज्य के रूप में तथा धारा 370 को समाप्त करने के स्वर भी देखने को मिले। इलेक्ट्रानिक मीडिया को लेकर विशेषज्ञों की राय उलट है, मुम्बई

1. नरेंद्र सहगल, सरकारी वार्ताकारों द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट-एक और पाकिस्तान, तथा आशुतोष, जम्मू-कश्मीर पर वार्ताकारों की रिपोर्ट विसंगतियों का पुलिंदा

हमले पर सरकारी कार्यवाही के सीधे प्रसारण से संकट खड़ा कर दिया था जो कि देश की सुरक्षा के दृष्टि से उचित नहीं था किंतु किया गया। कश्मीर के पत्थरबाजों की कारगुजारी को समाचारों के अंशों में दिखाने से उनकी मंशा को 'पर' लगे, प्रचार मिला और विश्व स्तर पर संदेश देने की कोशिश विद्रोही नेताओं के द्वारा की गई कि कश्मीर में सब कुछ ठीक नहीं है। वास्तव में इस राज्य के गंभीर मामले पर संवेदनशीलता के साथ ही मीडिया को भारतीय पक्ष को मजबूती से उभारने की कोशिशों की आवश्यकता है।

निष्कर्ष एवं सुझाव -

धारा 370 को बनाये रखने से राज्य की जनता स्वयं को शेष भारत से अलग-थलग महसूस करती है। भारत का कोई भी नागरिक देश में कहीं भी बसने को स्वतंत्र है, लेकिन जम्मू-कश्मीर में नहीं। यदि इस बात का प्रयास किया गया होता कि राज्य में देश के दूसरे भाग के लोग भी बसते, जिससे उनका भावनात्मक लगाव और देश की मुख्यधारा में शामिल होने की प्रवृत्ति बढ़ती। उक्त धारा राज्य में अलगाववादियों को प्रश्रय देने का काम कर रही है। गरीबी, बेरोजगारी, आतंकवाद ने राज्य की हालत को खराब किया है। केंद्र सरकार से पर्याप्त धन विकास के नाम पर दिये जाते हैं फिर भी पूरा राज्य विकास से दूर क्यों है? जम्मू-कश्मीर के कुछ हिस्सों के विरोध को पूरे राज्य के विरोध के रूप में पेश करने वालों के खिलाफ कार्यवाही की जानी चाहिए। वास्तव में धारा 370 को समाप्त करने का तंत्र धारा 370(3) में दिया है कि, ''राष्ट्रपति लोक सूचना द्वारा घोषणा कर सकेगा कि यह अनुच्छेद प्रवर्तन में नहीं रहेगा या ऐसे अपवादों और उपांतरणों के सहित ही ऐसी तारीख से प्रवर्तन में रहेगा जो वह विनिर्दिष्ट करे।'' संवैधानिक प्रवावधानों के तहत इसे किया जाना चाहिए ताकि भविष्य में इससे कोई समस्या फिर न खड़ी हो सके। 21 अगस्त 1962 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने धारा 370 के बारे में पं. प्रेमनाथ बजाज के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा था कि, संविधान में इस धारा, जो कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा देने वाली मानी जाती है, के बावजूद वस्तुतः बहुत कुछ किया जा चुका है और जो कुछ भी बचा है, वह भी धीरे-धीरे हो जायेगा। जम्मू-कश्मीर के पूर्व राज्यपाल श्री जगमोहन के अनुसार, ऐसा करना हमारे अतीत और वर्तमान जीवन के व्यापक और ज्यादा मौलिक सरोकारों का ही तकाजा है। इस धारा और इसके ताम-झाम को खत्म किया जाना जरूरी है।

मीडिया ने कश्मीर की समस्याओं पर पूरी कवरेज दी है। विलय के मामले पर मीडिया की राय आम जन के अनुरूप है। उस पर उठने वाले सवालों पर तथा उसके समाधान के लिए विशेषज्ञों की राय को भी बढ़ावा दिया है। धारा 370 पर मीडिया में भी दो राय स्पष्ट दिखाई देती है। कुछ लोग इसे एक पार्टी, विचारधारा तथा सांप्रदायिकता के आइने में देखते हैं और उनके मतानुसार इससे मामला गंभीर होने की आशंका है। जबकि कुछ मीडिया समूहों के अनुसार 370 पर विचार कर आवश्यकतानुसार समाप्त किया जाना चाहिए। वास्तव में जब देश के कई बड़े राज्यों को विकास के नाम पर छोटे राज्यों में बाँटा गया और उसके सकारात्मक परिणाम भी मिले हैं तो जम्मू-कश्मीर राज्य पर भी विचार किया जाना चाहिए।

जम्मू-कश्मीर में सभी को समान रूप से मताधिकार मिलना चाहिए। प्रदेश की विधानसभा देश के दूसरे राज्यों की तरह 5 वर्ष की हो। महिलाओं के मानवाधिकारों की रक्षा की जाए। प्रशासनिक नियुक्तियों में क्षेत्रीय संतुलन आवश्यक है जिसे किया जाना चाहिए। सेना का मनोबल तोड़ने वाली राजनीतिक बयानबाजी रोकने की आवश्यकता है। सेना विपरीत परिस्थितियों में काम कर रही है। यह भी सत्य है जिस दिन कश्मीर से सेना हटा ली जायेगी, राज्य पूरी तरह से कट्टरपंथियों के हाथ में चला जायेगा। जब आतंकवादियों के खिलाफ कारवाई होगी तो आतंकियों के मददगारों से भी कड़ाई से पूछ-ताछ होगी, इसमें बुराई क्या है? यह भी सत्य है कि ऐसे में कभी-कभी निर्दोष लोग भी फंस जाते हैं। निर्दोषों पर कारवाई के मामले में सेना या सुरक्षा बलों के लोगों पर कारवाई हुई है। पूरे राज्य को कश्मीर, जम्मू तथा लद्दाख के रूप में नये राज्यों का गठन किया जा सकता है, म0प्र0 छत्तीसगढ़, उ0प्र0 से उत्तराखंड, बिहार से झारखंड विकास की असमानता के कारण किया गया तो जम्मू-कश्मीर के पुनर्गठन की मांग को एक दल विशेष से जोड़कर देखना तर्क संगत नहीं लगता। राष्ट्रहित में इसके कई दूरगामी सुपरिणाम मिलेंगे।

*****

गंगा : ऐतिहासिक संदर्भ और वर्तमान दशा

ओम प्रकाश मिश्र[1]

गंगा हमारे लिए मात्र एक नदी नहीं है। यह भारत की अस्मिता एवं अगाध आस्था व अनेकानेक गुण-धर्मों के कारण दैवीय शक्ति के प्रति पूर्ण भक्ति का प्रतीक है। यह सत्य है कि विश्व की अनेक महान सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ नदियों के किनारे विकसित हुई हैं। गंगा हमारे देश के लिए एक ऐसी संजीवनी के रूप में है, जिनसे हमारी जीवन-पद्धति, आर्थिक अवस्था, सामाजिक सरोकार बहुत मजबूती से जुड़े हुए हैं। गंगा का उल्लेख हमारे देश के विभिन्न ग्रंथों में अत्यंत आदर के साथ हुआ है।

हमारे वेदों में गंगा के अतिरिक्त अन्य नदियों का भी विवरण है, किन्तु उन्हें संस्कृति का प्रतीक नहीं माना गया है अपितु गंगा को ही संस्कृति का प्रतीक माना गया है। ऋग्वेद में उल्लेख है-

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋग्वेद, 10/75/5)

श्रीमद्भागवत् गीता के 10वें अध्याय के श्लोक 31 में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं-

पवनः पवतास्मि रामः शस्त्रभृतामहत्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी।।

अर्थात् ''समस्त पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर तथा नदियों में गंगा हूँ।''

महाभात के वन पर्व और अनुशासन पर्व में अनेकों श्लोकों में गंगा जी की महिमा को बहुत विस्तार से बताया गया है। महाभारत के वन पर्व के श्लोक 85/90, 93 में उल्लेख है-

सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम्।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गंगा कलियुगे स्मृता।।
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढ़ा च पीता च पुनात्यास्पतमं कुलम् ।।

अर्थात् ''कृतयुग में सभी स्थल पवित्र होते हैं, त्रेता में पुष्कर सबसे अधिक पवित्र है, द्वापर में कुरुक्षेत्र एवं कलियुग में गंगा की विशेष महिमा है। नाम लेने पर गंगा पापी को पवित्र कर देती हैं, इन्हें देखने से सौभाग्य प्राप्त होता है, कल्याण-मंगल प्राप्त होता है। जब इनमें स्नान किया जाता है या इनका जल ग्रहण किया

1. सेवानिवृत्त वरिष्ठ अधिकारी उत्तर मध्य रेलवे एवं पूर्व प्रवक्ता इलाहाबाद विश्वविद्यालय

जाता है तो सात पीढ़ियों तक 'कुल' पवित्र हो जाता है।''

गंगा का महत्व पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण सम्पूर्ण देश में स्वीकार्य है। महाभारत के 26वें अध्याय के अनुशासन पर्व में गंगा की विशेष रूप से प्रशंसा है-

वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः।
क्रतवश्च यथासोमास्तथा गंगा विना जगत् ।।
यथा हीनं नभेऽर्केण भूः शैलेः खं च वायुना।
तथा देशा दिशश्चैव गंगाहीना न संशयः।। (महा0अनु0 26। 35-36)

अर्थात् ''वे देश, वे जनपद, वे आश्रम, वे पर्वत वास्तव में धन्य हैं, जो गंगा के तटवर्ती हैं, गंगा जल की प्रशंसा में यहाँ तक कह दिया गया है कि उसके सेवन से जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं और यदि संसार में गंगा न रहे तो जगत् का अस्तित्व ही व्यर्थ है।'' गंगा जल के अंतर्गत यदि चैतन्य स्वरूप गंगा में विराजमान न होती, तो उनके थोड़े से स्पर्श से राजा सागर के 60 हजार पुत्र कैसे तरते। उनके दर्शन और स्नान से असंख्य जीवों का कल्याण नहीं हो पाता।

पद्मपुराण में गंगा के प्रति उल्लेख है-

पापबुद्धिं परित्यज्य गंगायां लोकमातरि।
स्नानं कुरुते हे लोका यदि सद्गतिमिच्छथ।। (पद्मपुराण, 7/9/157)

अर्थात् ''जो मनुष्य अपनी सद्गति चाहता है, उसे पाप बुद्धि का आश्रय छोड़कर गंगा में अवगाहन करना चाहिए।''

भगवान् शंकराचार्य माँ गंगा के बारे में श्री गंगाष्टकम् में कहते हैं-

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि।
सकलकलुषभंगे स्वर्गसोपानसंगे
तरलतरंगे देवि गंगे प्रसीद।। (श्री गंगाष्टकम्, 1)

अर्थात् ''हे माँ गंगे! आपके पावन पुलिनप्रान्त में केवल अमृतोपम जलपान करके, सर्वविध विषय-वासनाजन्य तृष्णा से रहित हो कृष्णाराधन करुँ। सकल कल्मषनाशिनी, स्वर्गारोहण-वैजयन्तीसदृश सोपानरूपे कलकल कल्लोल करती चंचल तरंगों वाली माँ गंगे। आप मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ।''

महाकवि तुलसीदास ने गंगा की महिमा में अपनी दोहावली में उल्लेख किया है-

कलि पाषंड प्रचार प्रबल पाप पावँर पतित।
तुलसी उभय अधार राम नाम सुरसरि सलिल।।
(दोहावली, श्लोक 566)

अर्थात् ''कलियुग में केवल पाखण्ड का प्रचार है, संसार में पाप बहुत प्रबल हो गया है, सब ओर

पामर और पतित ही नजर आते हैं। ऐसी स्थिति में दो ही आधार हैं- एक श्रीरामनाम और दूसरा देवनदी श्री गंगा जी का पवित्र जल।''

पण्डित जगन्नाथ विरचित श्री गंगा लहरी के श्लोक 22 में गंगा की महिमा में उल्लिखित है-

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिरुरुहे।
कथा वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै
स्तुतालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः।।

अर्थात् ''हे अम्बे! पर्वतों से निकलती हुई वे कौन-सी नदियाँ हैं, जो शिवजी की जटा में चढ़कर निवास करती हैं और किसने लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के पादारविन्द को अपने जल से धोया है, जिसकी थोड़ी भी उपमा कविवरों द्वारा तुमसे दी गई हो अर्थात् कोई भी ऐसी नदी नहीं है जिसकी थोड़ी उपमा तुमसे दी जा सके।''

महाकवि तुलसीदास ने कवितावली के उत्तर काण्ड में उल्लेख किया है-

भागीरथी-जलु पान करौं, अरु नाम द्वै रामके लेत नितै हौं।
मेको न लेनो, न दोनों कछू, कलि! भूलि न रावरी ओर चितैहौं।।
(कवितावली, उत्तरकाण्ड, श्लोक 102)

अर्थात् ''मैं गंगाजल पीता हूँ और नित्य राम के दो नाम लेता हूँ। हे कलिकाल! मुझे तुमसे कुछ भी लेना-देना (सरोकार) नहीं है और मैं भूलकर भी तुम्हारी ओर नहीं देखूँगा।''

महाकवि तुलसीदास के विनय पत्रिका में उल्लिखित है-

महिमा की अवधि करसि बहु बिधि हरि-हरनि।
तुलसी करु बानि बिमल, बिमल बारि बरनि।। (विनय पत्रिका पद 20(3))

अर्थात् हे गंगा जी! जैसा तुम्हारा निर्मल पापनाशक जल है, तुलसीदास की वाणी को भी वैसी ही निर्मल बना दो, जिससे वह सर्वपापनाशक रामचरित का गान कर सके।''

रामचरित मानस के बाल काण्ड में भगवान् शिव का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं-

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल।। (रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 106)

अर्थात् ''उनके सिर पर जटाओं का मुकुट और गंगाजी (शोभायमान) थीं। कमल के समान बड़े-बड़े नेत्र थे। उनका नीलकण्ठ था और वे सुन्दरता के भण्डार थे। उनके मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभित था।''

इसके अतिरिक्त बाल काण्ड में ही तुलसीदास पुनः उल्लेख करते हैं-

जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी।।

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, 211)

अर्थात् ''जिन चरणों से परम पवित्र देवनदी प्रकट हुई, जिन्हें शिवजी ने सिर पर धारण किया और जिन चरण कमलों को ब्रह्मा जी पूजते हैं, कृपालु हरि (आप) ने उन्हीं को मेरे सिर पर रखा।''

उत्तर काण्ड में महाकवि तुलसीदास भगवान् शिव की आराधना में कहते हैं-

''स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गंगा।'' (उत्तर काण्ड 108(3))

अर्थात् ''जिनके सिर पर सुन्दर नदी गंगा जी विराजमान हैं।''

रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड में भरत जी कहते हैं-

एहि बिधि भरत सेनु सबु संगा। दीखि जाइ जग पावनि गंगा।।

रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू।। (अयोध्याकांड, 197(2))

अर्थात् ''इस प्रकार भरतजी ने सब सेना को साथ में लिए हुए जगत् को पवित्र करने वाली गंगाजी के दर्शन किए। श्रीरामघाट को (जहाँ श्रीरामजी ने स्नान-सन्ध्या की थी) प्रणाम किया। उनका मन इतना आनन्दमग्न हो गया, मानो उन्हें स्वयं श्रीरामजी मिल गए हों।''

इसी प्रकार महाकवि तुलसीदास आगे उल्लेख करते हैं-

करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी।।

करि मज्जनु मागहिं कर जोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी।। (अयोध्याकांड, 197(3))

अर्थात् ''नगर के नर-नारी प्रणाम कर रहे हैं और गंगाजी के ब्रह्मरूप जल को देख-देखकर आनन्दित हो रहे हैं। गंगाजी में स्नानकर हाथ जोड़कर सब यही वर माँगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में हमारा प्रेम कम न हो (अर्थात् बहुत अधिक हो)।''

भगवान् श्री राम वन गमन करते समय गणेश जी और शिवजी का स्मरण करके गंगा जी को भी मस्तक नवाकर आगे जाते हैं। सीता जी ने भी गंगा माँ से प्रार्थना की है-

सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी।।

पति देवर सँग कुसल बहोरी। आई करौं जेहिं पूजा तोरी।। (बालकाण्ड 103 का 2 व 3)

उपरोक्त ग्रंथों के उल्लेख से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि गंगा भारतीय जन-जीवन में प्राण-वायु की भाँति रची बसी है। यदि आर्थिक दृष्टि से देखा जाए, तो भारत की जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण हिस्सा गंगा के तट या इसके किनारे बसा हुआ है। भारतीय कृषि में गंगा का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। गंगा के किनारे जो नगर बसे हैं, वहाँ पर पर्यटन का उद्योग बहुत बड़े पैमाने पर विकसित हुआ है। भारत की संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा गंगा के किनारे ही पनपा व पल्लवित हुआ है। सैकड़ों तीर्थ स्थलों की स्थापना भी इसके किनारों पर हुई है।

विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह प्रमाणित हुआ है कि गंगा का जल अन्य किसी भी नदी की तुलना में मूलतः स्वच्छ है। उसमें ऐसे तत्व पाए जाते हैं, जो कीटाणुओं का नाश करते हैं। गंगा के जल में

बैक्टीरियोफेज नामक जीवाणु होते हैं, जो विषाणुओं व अन्य हानिकारक सूक्ष्म जीवों को मार देते हैं। गंगा नदी के जल में ऑक्सीजन को बनाए रखने की अद्‌भुत क्षमता है।

विभिन्न सर्वेक्षणों से यह स्पष्ट हुआ है कि जब गंगा गोमुख व अन्य उद्‌गम स्रोतों से निकलकर आगे बहती है, तब हरिद्वार, कानपुर, प्रयागराज, इलाहाबाद, वाराणसी, बलिया से कलकत्ता तक छोटे-बड़े नगरों के विभिन्न प्रकार के प्रदूषक तत्व गंगा की पवित्रता को प्रदूषित कर रहे हैं। वैश्वीकरण की अंधी दौड़ में कारखानों का रसायन गंगा में बहाया जा रहा है, शहरों के सीवर भी गंगा नदी में डाल दिए जाते हैं। बहुत से मरे हुए पशुओं के शरीर को गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता है। इन सभी कारणों से गंगा में प्रदूषण का स्तर लगातार बढ़ता जा रहा है। जिस गंगा जल की गुणवत्ता को केवल भारतीय ऋषि-मनीषियों ने ही नहीं अपितु बाहर से आने वालों तक ने सम्मान किया वह गंगा जल आज प्रदूषित हो चुका है। इब्नबतूता ने 14वीं शताब्दी में लिखा है कि ''सुल्तान मोहम्मद तुगलक के लिए गंगा जल दौलताबाद से लाया जाता था।'' अबुल फजल ने ''आइने अकबरी'' में लिखा है कि ''बादशाह अकबर गंगा जल को अमृत समझते हैं और उसके आने का प्रबन्ध रखने के लिए उन्होंने कई योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया हुआ है, वह घर में या यात्रा में गंगाजल ही पीते हैं। खाना बनाने के लिए वर्षा जल या यमुना जल, जिसमें गंगा जल मिला दिया जाता है, काम में लाया जाता है।''

डॉक्टर बर्नियर जो 1656 ई0 से 68 तक भारत में रहा, जो शाहजादा दाराशिकोह का चिकित्सक था, उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है, ''बादशाह औरंगजेब के लिए खाने-पीने की सामग्री के साथ गंगाजल भी रहता है, प्रतिदिन नाश्ते के साथ एक सुराही गंगाजल भेजा जाता है।''

डाक्टर नेल्सन ने लिखा है कि ''हुबली नदी (गंगा) का पानी जो कलकत्ता से जहाजों में लन्दन जाता था, वह लन्दन पहुँचने पर भी खराब नहीं होता था। जबकि टेम्स नदी का पानी जो लन्दन से जहाजों से मुम्बई तक आता था, मुम्बई पहुँचने से पहले ही खराब हो जाता था।'' आगरा के राजकीय रसायन-परीक्षक श्री ई.एच. हैकिन्स ने अपनी प्रयोगशाला में गंगाजल पर अनेक परीक्षण किए। तत्पश्चात् इस विषय में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की- ''गंगाजल को पवित्र और दिव्य वस्तु मानने वाले भारतीयों के कथन में सार है गंगा जल हैजा आदि व संक्रामक रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करता है। किंतु मुझे आश्चर्य है कि प्राचीन भारत के हिन्दू समाज के विद्वानों को कीटाणु-विज्ञान का इतना सूक्ष्म ज्ञान किस प्रकार हुआ।''

गंगा चूँकि बहुत तेजी से बहती है, इसलिए उनके अन्दर पर्याप्त घुलनशील ऑक्सीजन आ जाती है, जो कि जल-चर जीवों के लिए अत्यंत आवश्यक है। गंगा माँ की असीम शुद्धिकरण की क्षमता तथा उसके प्रति भारतीयों के मन में असीम श्रद्धा के रहते भी हम उसे दूषित होने से नहीं बचा पा रहे हैं।

गंगा प्रदूषण मुक्ति के लिए बहुत सारे सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं। 1986 में गंगा कार्य योजना आरंभ हुई। 2009 में राष्ट्रीय गंगा नदी प्राधिकरण बोर्ड के रूप में इसे पुनः प्रारंभ किया गया। इसका उद्देश्य था कि गंगा नदी में प्रदूषण को रोकते हुए गंगा नदी के जल की गुणवत्ता को एक मानक स्तर पर पहुँचाया जाए। गंगा भारत की लगभग 27 प्रतिशत भू-भाग आच्छादित करती है, जिन्हें भारत की राष्ट्रीय नदी भी घोषित किया

जा चुका है। उसके विषय में जुलाई 2014 में राष्ट्रीय स्तर पर गंगा मंत्रणा समिति की बैठक आयोजित हुई, जिसका उद्देश्य ''गंगा निर्मलीकरण'' एवं ''गंगा संरक्षण'' था। इसमें चार समूह बनाये गए थे-

(1) सन्तों एवं अध्यात्मिक नेताओं का संगठन

(2) गैर सरकारी-संगठनों एवं पर्यावरणविदों का संघ

(3) विज्ञान-विशेषज्ञों एवं शिक्षकों का संघ तथा

(4) लोक-प्रतिनिधियों एवं प्रशासकों का संगठन।

उपर्युक्त मंत्रणा समिति में सम्मिलित सभी सहभागियों के विचार एवं सुझाव थे कि गंगा नदी 'अविरल' और 'निर्मल' होनी चाहिए एवं एक विशद नीति का निर्माण तथा उसका क्रियान्वयन होना चाहिए, ताकि गंगा अपने मूल स्वरूप में पहुँच सके।

'जल संसाधन मंत्रालय' को बदलकर भारत सरकार ने 'जल संसाधन, नदी विकास एवं गंगा संरक्षण मंत्रालय' बनाकर गंगा के निर्मलीकरण की राह में एक और महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया है, जिसमें 2037 करोड़ रुपए का बजट गंगा सफाई हेतु स्वीकृत 'नमामि गंगे' योजना के अंतर्गत किया है। लेकिन अभी तक प्रदूषण नियंत्रण एवं गंगा के प्रवाह में अपेक्षित सुधार नहीं दिख रहा है।

मेरा यह विश्वास है कि गंगा की पवित्रता को सुनिश्चित करने के लिए मात्र सरकारी प्रयासों से ही सफलता प्राप्त होगी, ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि गंगा की पवित्रता के लिए जन-जागरण में सभी की सहभागिता हो गंगा में प्रदूषण फैलने से रोकने के लिए हमें अपनी जीवन पद्धति, अपने संस्कार, अपनी प्राचीन सभ्यता-मान्यताओं, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक परिवेश के प्रति जागरूकता से संभव होगी और इस हेतु सभी सुधी-जनों को गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

*****

राजनीति में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता

आलोक कुमार त्रिपाठी[1]

राजनीति में नैतिकता को अपनाया जाय या न अपनाया जाय यह विद्वानों के लिए विचारणीय बिन्दु हो सकता है, और यही कारण है कि समय विभिन्न देशों के विद्वानों ने परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये हैं। जहाँ तक भारत का प्रश्न है तो सम्पूर्ण भारतीय जीवन आध्यात्मिकता और नैतिकता जैसे मूल्यों से न्यूनाधिक मात्रा में सदैव प्रभावित रहा है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के सार्वभौम मूल्यों को विश्व के किसी भी देश में व किसी भी काल में और किसी भी प्रकार के राजनीतिक सामाजिक और शासकीय व्यवस्था में न तो भूतकाल में न ही वर्तमान और न ही भविष्य में कभी दुर्लक्ष्य किया जा सकता है।

विश्व राजनीतिक परिदृश्य में सर्वप्रथम पाश्चात्य दार्शनिकों में सुकरात ने अपना सारा जीवन तत्व-चिन्तन और दार्शनिक विचार-विमर्श में व्यतीत किया।[2] उसने नागरिक की तरह विभिन्न पदों पर रहकर राज्य की सेवा की और उसकी तरफ से युद्धों में भाग लिया। उसके जीवन का मूल मंत्र दृढ़ता से नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करना था। यद्यपि उसने नागिरक कर्तव्यों का कभी उल्लंघन नहीं किया तथापि शासकों के ऐसे आदेशों को मानने से इंकार कर दिया जो नैतिक मान्यताओं के खिलाफ थे। अपने विवेक के अनुसार कार्य का नैतिक साहस रखना उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी।

इसी क्रम में पाश्चात्य विचारक प्लेटों और अरस्तू का उल्लेख प्रासंगिक है। प्लेटों राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही अंग मानता था दूसरे शब्दों में अफलातून ने नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र पर प्रधानता दी। राजनीति को उसने नीतिशास्त्र रूपी वृक्ष की शाखा मात्र माना। अतः आलोचकों ने यह मत व्यक्त किया कि प्लेटों के अनुसार सम्पूर्ण राजनीति नैतिकता पर आधारित होनी चाहिए।[3] परन्तु इसके विपरीत अरस्तू विश्व का ऐसा पहला विचारक था जिसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से सर्वथा अलग माना और स्पष्ट घोषणा किया कि दोनों विषय स्वायत्त हैं, इसलिए नैतिकता के सिद्धांत को राजनीतिशास्त्र में मान्यता नहीं दी जा सकती है। संभवतः राजनीतिशास्त्र से नीतिशास्त्र को पृथक करना ही अरस्तू को राजनीतिशास्त्र का पिता घोषित करने का

1. शोध छात्र, राजीव गांधी चेयर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2. Barker.op.cit.99

3. Will Durant: story of philosophy, p.20

एक प्रमुख कारण बना। परंतु आलोचकों की यह धारणा है कि राजनीति का नीतिशास्त्र से पृथक्करण अरस्तू के राजनीतिक चिंतन का एक संयोग मात्र था जिसे जानबूझकर नहीं बल्कि मात्र संयोगवश अपनाया गया था।[1]

राजनीति के क्षेत्र में सर्वप्रथम मर्सिलियो ने धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का प्रतिपादन किया था, परन्तु वह धर्म को राज्य से पृथक नहीं करता है। अन्य मध्ययुगीन विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में धर्म और राजनीति को संयुक्त माना है।[2] सबसे पहले और स्पष्ट रूप से राजनीति से धर्म और नैतिकता को पृथक करने वाले सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय मैकियावली को प्राप्त है।[3] मैकियावली के चिंतन का मुख्य लक्ष्य राज्य का संरक्षण और उसका विस्तार करना है, जबकि नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य का नैतिक विकास करना है। अतः उद्देश्य की इस भिन्नता के कारण ही राज्य और व्यक्ति को एक साथ नहीं रखा जा सकता। अतः वह कहता है कि राज्य किसी नैतिकता को नहीं जानता जो कुछ वह करता है, वह न तो नैतिक है और नहीं अनैतिक, प्रत्युत वह नैतिकता निरपेक्ष हैं।

भारतीय चिंतन और इसकी प्राचीन परंपरा में राज्य व्यवस्था में धर्म (नैतिक मापदंड) का सर्वोच्च स्थान रहा है। समाज के सभी वर्ग और सारी कार्य प्रणाली के मूल में धर्म के नीति निर्देश समन्वित थे और राजा को इस दिशा में कोई संस्कार संशोधित करने का अधिकार नहीं था। धर्मसूत्रों और मनुस्मृति आदि ग्रंथों में राजा को धर्म का एक अंग माना गया है।[4] प्राचीन भारतीय दर्शन में अनासक्त शील और सदाचार से परिपूर्ण नैतिक, धार्मिक एवं आत्मसंयम से पुनीत जीवन को मान्यता दी गई है। महाभारत की मूलकथा और अन्य प्रासंगिक कथाओं में आये अनेक प्रसंगों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए स्वर्गरोहण पर्व में पाण्डवों की अंतिम यात्रा के समय चलते-चलते मेरु पर्वत के समीप महाराज युधिष्ठिर अपनी पत्नी व चारों भाइयों के मार्ग में रह जाने के बाद भी अकेले ही अपने स्वामिभक्त कुत्ते के साथ आगे बढ़ चले। एक राजा का नैतिक व्यवहार और जीवमात्र के प्रति संवेदना की अद्‌भुत मिसाल वहाँ घटी एक अमर घटना से मिलती है। उनकी धर्मपरायणता को देखकर इंद्र स्वयं अपना रथ लेके आते हैं और उन्हें चलने को कहते हैं युधिष्ठिर अपने कुत्ते को भी ले चलने के लिये आग्रह करते हैं किंतु इंद्र उन्हें केवल उनके लिए ही स्थान होने की बात करते हैं। युधिष्ठिर विनम्रता पूर्वक आसन ग्रहण करना अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि उनके हमराही को उसमें बैठने की अनुमति नहीं मिलती। एक ओर प्राणिमात्र की आकांक्षाओं का चरम स्वर्ग सुख और दूसरी ओर है मानवीय कर्त्तव्य। युधिष्ठर की धर्म बुद्धि करुणापूर्ण अन्तःकरण और मानवीय दृष्टिकोण की चरम पराकाष्ठा वहाँ देखने

1. Quoted by sabine:op.cit., p.84
2. Sabine, op.cit., p. 341
3. Maxey, op.cit., p. 132sss
4. वाचस्पति गैरोला : कौटिल्य अर्थशास्त्रम एवं मनुस्मृति 8/10

को मिलती है।[1] महाभारत की प्रतीकात्मक शैली में यह कुत्ता न था स्वयं धर्म के नैतिक मानवीय मूल्य थे जिसे राजा ने स्वर्गसुख के आगे भी नहीं छोड़ा, इसीलिए राजा के रूप में भारतीय समाज युधिष्ठिर को अपना आदर्श मानता है न कि दुर्योधन का।

भारतीय चिंतन के नैतिकता परक मानदंड को आगे बढ़ाते हुये एकात्म मानववाद के प्रणेता दीनदयाल उपाध्याय जी कहते हैं कि मानवीय सभ्यता का पहला संगठन समाज है। उनका मानना है कि भारतीय समाज परम्परा में एक स्थिति ऐसी थी या कल्पना की गई है, जब राज्य नहीं था और न राजा था, न दण्ड था न ही दाण्डिक था। सब लोग परस्पर धर्म (नैतिक और मानवीय मूल्य) के आधार पर कार्य करते थे। तो प्रश्न उठता है कि इस धर्म को किसने बनाया और यह कैसे कार्य करता है? दीनदयाल जी इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि धर्म को किसी ने बनाया नहीं अपितु जीवन संचलन के ये नियम ढूँढ़े गये हैं, ये अपने आप में स्वयंभू हैं। हमारा काम बस इन्हें खोज लेना है। कार्य की दृष्टि से प्रारम्भ में ये आपसी समझ से कार्य करता था किन्तु धीरे -धीरे जब धर्म की क्षति होने लगी और परस्पर समझदारी का स्थान व्यक्तिगत लोभ लेने लगा तो समाज के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की गयी जो धर्म के अनुरूप आचरण करने वालों की रक्षा कर सके और अधर्म के आधार पर आचरण करने वाले को दण्ड दे सके। अतः राज्य और राजा का उदय हुआ, जो धर्म को लागू करेगा उनका निर्माण नहीं।[2]

आधुनिक भारतीय राजनीतिक दर्शन में धर्म और नैतिकता को राजनीति से पूरी तरह से संबद्ध करने का श्रेय महात्मा गाँधी को जाता है। उन्होंने राजनीति को ऊपर उठाते हुये उसे निःस्वार्थ लोक सेवा तथा नैतिकता के स्तर पर रखा। गाँधी भी उसी परिपाटी को आगे बढ़ाते हुये राजनीति को धर्म और नैतिकता की शाखा मानते हैं। अतः उन्होंने राजनीति को शक्ति एवं वैभव प्राप्ति का साधन नहीं माना।[3] गांधी जी का विचार था कि राजनीति का अर्थ है जन-सेवा अथवा जन-कल्याण है और उन्होंने तर्क दिया कि किसी भी प्रकार का जन-कल्याण अथवा लोकहित अनैतिक और गैर आध्यात्मिक मार्ग अपनाकर नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से गांधी राजनीति में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रासंगिक मानते हैं। गाँधी जी ने धर्म और राजनीति को मिलाने के लिए अथक प्रयास किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि धर्म व्यक्ति को नैतिक मूल्यों व नैतिक सिद्धांतों के प्रति प्रेरित करता है और उस मार्ग की दिशा दिखाता है जो नैतिक रूप से उचित है। जब धर्म का राजनीति में समावेश किया जाता है तब इसके व्यापक परिणाम सामने आते हैं। जब चारों तरफ नैतिक मूल्य छा जाते हैं, तब राजनीति में शामिल व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह समाज की भलाई के लिए कार्य करने लगता

1. महाभारत वनपर्व 36-27
2. Gihdna M.K. : My Experiments with truth, p. 591.
3. Pro Ramchandran : The Man Gandhi, Naipatinkara : Madhavi Mandir, 1983.

है और सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है।[1]

सोच हकीकत को आकार देती है। आज की सोच उपभोक्तावादी दृष्टिकोण से अतिशय प्रभावित है, प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक उपभोग करना चाहता है। राजनीति इससे अछूती नहीं। आज राजनीति समाज सेवा के लिए नहीं अपितु स्वयं की सेवा के लिए की जा रही है। चाहे प्रधानी का चुनाव हो या फिर लोकसभा का धन का अंधाधुंध प्रयोग किया जा रहा है, हर छोटी और ओछी बात या फिर ऐसी घटना जिसका जन कल्याण से कोई वास्ता न हो किन्तु वो वोट दिला सके उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दों के तौर पर पेश किया जाता है। आज की राजनीति का लोभपरक हो जाने का महत्वपूर्ण कारण लोकमत अर्थात जनता है। दीनदयाल उपाध्याय जी ने कहा था कि ''सिद्धान्तहीन मतदान सिद्धान्तहीन राजनीति का जनक है।'' अतः वर्तमान में राजनीति का नैतिकता से दूर होने का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्धान्तहीन मतदान है। राजनीति जब सिद्धांतहीन हो जाती है तब राजनीतिक दल गिरोह बन जाते हैं, जिनका उद्देश्य केवल और केवल सत्ता सुख ही होता है। परिस्थितियों की दुहाई देकर गलत को सही सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए राजनीति में नैतिकता के प्रतिमान की स्थापना के लिए लोकमत का परिष्कार आवश्यक हैं।

नैतिकता कुछ नियम एवं सिद्धांत निर्देशित करती है जो राजनीतिक समस्याओं का एक बड़े और दूरगामी दृष्टिकोण से समाधान में हमें सक्षम बनाती है। नैतिकता हमें नैतिक विकल्प मुहैया करती हैं जो एक तरह का ढाँचा है जिसका कठिन परिस्थितियों में हल ढूँढ़ने के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। भारतीय चिंतन का समग्र दृष्टिकोण व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के परितः घूमता है। गाँधी कहते हैं ''मैं नहीं मानता कि आध्यात्मिक नियम अपने क्षेत्र में ही काम करते हैं सामान्य गतिविधियों में भी इस नियम की अभिव्यक्ति होती है। नैतिकता दूसरे लोगों तथा समाज के हितों की चिंता करती है आखिरी अच्छाई लक्ष्य के साथ वह अलग-अलग हो सकती है, इसलिए जब एक इंसान नैतिक तौर पे सोचता है तो वह अपने से अलग समाज के लिए सोचता है।[2]

उपसंहार :

राजनीति में नैतिक मूल्यों और साधनों की पवित्रता द्वारा आध्यात्मीकरण करके अन्याय और निरंकुशता का सत्याग्रह द्वारा सामना करके एक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का योग एवं समन्वय कर भारतीय विचारकों ने इसे महत्ता प्रदान की और इसी के आधार पर जीवन का औचित्य खोजा। आज भारत ही नहीं सम्पूर्ण दुनिया अध्यात्मिक नैतिक मूल्यों के लिए भारत की ओर देख रही है, अमेरिकी लेखक मार्क ट्वेन लिखता है। (Our most valuable and most instructive materials in the history of man are treasured up in India only") मानव इतिहास में हमारी सबसे मूल्यवान और सबसे शिक्षाप्रद सामग्री केवल भारत के कोष में है। इस तरह निष्कर्षतः यह कहना उपयुक्त होगा कि नैतिकता और आध्यात्मिकता का राजनीति

1. Anantha, T.S., Gandhi Hindi Swaraj : Its Appeal to Me "Gandhi Peace Foundation, New Delhi

शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में एकात्म मानववाद की उपादेयता का विश्लेषण

रेखा रानी कपूर[1]

दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म मानववाद' पाश्चात्य पूँजीवादी व्यक्तिवाद के दृष्टिकोण और मार्क्सवादी समाजवाद के दृष्टिकोण का खंडन करता है। पूँजीवाद और समाजवाद को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परखता हुआ यह दर्शन जमीनी यथार्थ से जुड़ा है जो मध्य मार्ग को सर्वोपरि मानता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार महत्वपूर्ण उद्देश्यों को सार्वभौमिक रूप से मानव के लिए सर्वोपरि माना गया है। दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार, इन्हीं चार उद्देश्यों के निमित्त शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा का विकास ही मानव का चरम ध्येय है। एकात्म मानववाद आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदांत और देशज चिंतकों के दृष्टिकोण से अनुप्रमाणित है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत के परिरक्षण और गतिशील समाज की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय और पाश्चात्य चिंतन में संतुलन स्थापित करना अपरिहार्य है। उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन उपभोक्तावादी संस्कृति का विरोध करता है। यह मानव की इच्छाओं के नियंत्रण और संतोषपूर्ण जीवन जीने के सिद्धांत का समर्थन करता है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने 22 से 25 अप्रैल 1965 में मुंबई में चार भाषण दिए, जिसमें उनके द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद का परिचय मिलता है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने लखनऊ से स्वदेश (दैनिक) का संपादन किया। उन्होंने हिंदी में चंद्रगुप्त मौर्य नाटक की रचना और शंकराचार्य पर हिंदी में जीवनी की रचना की। उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार की मराठी जीवनी का अनुवाद किया। एकात्म मानववाद के दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धांत सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक प्रत्येक क्षेत्र में अत्यंत प्रासंगिक है। प्रस्तुत आलेख शैक्षिक परिदृश्य में एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता का विवेचन करता है।

शैक्षिक परिदृश्य और एकात्म मानववाद

एकात्म मानववाद में निहित संदेश लोकतंत्र, समानता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता, वैश्विक शांति जैसे उच्च आदर्शों की संस्थापना पर बल देता है। अनेक पाश्चात्य विचारकों के अनुसार व्यक्ति और समाज में अंतर्निहित संघर्ष है, किन्तु एकात्म मानववाद के दर्शन के अनुसार वस्तुतः मानव और समाज में संघर्ष नहीं, सामंजस्य और संतुलन का भाव स्थापित होना चाहिए। मानव अदृश्य समाज का प्रतिनिधि है। वह समाज के महत्वपूर्ण

1. शोध छात्रा, शिक्षा संकाय, आई.ए.एस.ई., जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली।

अभिकरण के रूप में कार्यशील है और मानव के द्वारा ही समाज की वास्तविक स्वरूप की पूर्णतः अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार पुष्प की सुंदरता उसकी पंखुड़ियों के सौंदर्य पर निर्भर है, उसी प्रकार पंखुड़ियों की महत्ता भी उनके पुष्प में अंतःग्रंथित होने पर अवलंबित है। मानव और समाज हित का विकास पारस्परिक रूप से अंतःसंबंधित है। एकात्म मानववाद के अनुसार, मानव के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास महत्वपूर्ण है।

शैक्षिक परिदृश्य में एकात्म मानववाद के सिद्धांतों का अनुसरण कर हम शैक्षिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकते हैं। वर्तमान वस्तुस्थिति का अवलोकन करने पर दृष्टिगत होता है कि आज हम विखंडनवाद और संशयवाद की धारा से गुजर रहे हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति और मॉल संस्कृति के इस दौर में मानव एक मशीन बन कर रह गया है जिसका ध्येय स्वार्थ साधना ही रह गया है। आधुनिकता के इस दौर में चरित्र निर्माण और समाज कल्याण जैसे महत्वपूर्ण पक्षों की अवहेलना हो रही है। भौतिक रूप से संपन्नता को ही मानव ने जीवन का अंतिम ध्येय मान लिया है और आध्यात्मिकता के दृष्टिकोण से हम कंगाल हो गये हैं। प्राचीन संस्कृति और चिरसंचित धरोहर का अपमान हो रहा है। सुमित्रानंदन पंत की पंक्तियां इस स्थिति पर प्रकाश डालती हैं-

है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास?
चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव उर में फिर मानवता का हो प्रवेश। बापू - सुमित्रानंदन पंत (दिसंबर' 39)

इक्कीसवीं सदी में प्राचीन जीवन मूल्यों का इस प्रकार तिरस्कार किया जा रहा है कि उनके अस्तित्व को पहचानना आज असंभव हो गया है। यह चिंतनीय प्रश्न है कि जिस भारतवर्ष को सोने की चिड़िया के नाम से संबोधित किया जाता था और जहाँ की सत्य, अहिंसा व धर्म की चर्चा संपूर्ण विश्व में गुंजायमान थी, उसका भविष्य किस दिशा की ओर अग्रसर है? मैथिलीशरण गुप्त जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भारतीयों को इस चेतनाशून्य संस्कृतिविहीन परिस्थितियों का परित्याग कर जीवन के मूल आदर्शों का पालन करने के लिए आह्वान करती हैं-

'जड़ दीप वो देकर हमें आलोक जलता आप है,
पर एक हममें दूसरों को दे रहा संताप है,
क्या हम जड़ों से भी जगत में हैं गए बीते नहीं?
हे भाईयों इस भाँति तो तुम थे कभी जीते नहीं।।'

शैक्षिक व्यवस्था में परिवर्तन द्वारा ही हम मानव और समाज का कल्याण कर सकते हैं। एकात्म मानववाद के दर्शन को हम शैक्षिक व्यवस्था में अपनाकर शिक्षा को कल्पवृक्ष बना सकते हैं। प्राचीन काल से ही शिक्षा को मानव के लिए महत्वपूर्ण माना गया है।

'येषां न विद्या न तपो न दानं
न ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः

ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति। -भर्तृहरि नीति शतक-13

शिक्षा ही मानव को मानव बनाती है अन्यथा मानव एवं पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता। शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, सामंजस्यपूर्ण और प्रगतिशील विकास है। शिक्षा एक ऐसा अमूल्य साधन है जो मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनुकूलित वातावरण का निर्माण करता है।

एकात्म मानववाद के सिद्धांत को अपनाकर हम शिक्षा को बालक के व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास का आधार बना सकते हैं ताकि वह समाज का महत्वपूर्ण अंग बन सके। हमारे देश में सदैव से मूल्यों को प्रधानता दी जाती रही है। इक्कीसवीं में त्वरित गति से होने वाले परिवर्तनों ने हमारी पारंपरिक मूल्य धरोहर को मानो विलुप्त कर दिया है। आधुनिकीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण की प्रवृत्तियों के कारण देश की सामाजिक आर्थिक संरचना में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। आधुनिक समाज की स्वार्थपरक और भौतिकवादी प्रवृत्ति भी समाज के समक्ष कोई आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करने में अक्षम है। औद्योगीकरण, मशीनीकरण और उपभोकतावादी संस्कृति ने विषम सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों को उत्पन्न किया है जिसने भौतिकवादी दृष्टिकोण को विकसित किया है। 'मॉल संस्कृति' के चलते पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करते हुए वर्तमान पीढ़ी ने मानवीय मूल्यों को विस्मृत कर दिया है। वर्तमान समय में व्यक्ति में समाज, राष्ट्र और विश्व के व्यापक सरोकारों से जुड़ने की प्रतिबद्धता का अभाव दृष्टिगत होता है।

सूचना विस्फोट, प्रौद्योगिकी और बाजारवाद के विस्तार ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का विस्तार किया है। आज धर्म, भाषा, जाति, प्रांत, संप्रदाय के नाम पर परस्पर विरोध व प्रतिरोध की ध्वनियाँ मुखरित हो रही हैं, जिसने कट्टरवादी व अलगाववादी दृष्टिकोण को प्रधानता प्रदान की है। यह विडंबना है कि आज के वैश्वीकरण के युग में धार्मिक कट्टरता व उन्माद ने परस्पर घृणा, आतंक एवं शत्रुता का वातावरण पैदा किया है जिससे सामाजिक व राष्ट्रीय विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि यहाँ समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है। किन्तु वर्तमान वस्तुस्थिति में परिस्थितियाँ अत्यंत जटिल है। शैक्षिक व्यवस्था में परिवर्तन द्वारा ही विद्यार्थियों में सर्वधर्म समभाव, विश्व बंधुत्व व अंतराष्ट्रीय सद्भावना का विकास किया जा सकता है।

एकात्म मानववाद के सिद्धांतों का अनुपालन कर हम शिक्षक की भूमिका को नवीन परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। शिक्षक और विद्यार्थियों में प्रेम व भाईचारे की भावना का विकास करना चाहिए। पाठ्य सहभागी गतिविधियों द्वारा विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण पर बल देना चाहिए। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियों के मन मस्तिष्क से संकीर्ण मनोवृत्तियों जैसे संप्रदायवाद, जातिवाद, भाषावाद, प्रांतीयता इत्यादि को समाप्त कर उनमें राष्ट्रभक्ति जैसे उदात्त भावनाओं का विकास करे। विभिन्न महानुभावों के जीवन-चरित्र का वर्णन, विभिन्न धर्म ग्रंथों के महत्वपूर्ण उपदेशों का विवेचन, राष्ट्रीय अस्मिता को प्रतिबिंबित करता लोक साहित्य इत्यादि का विवेचन-विश्लेषण कर विद्यार्थियों में उदार दृष्टिकोण का विकास संभव है। शिक्षक विद्यार्थियों में लोकतांत्रिक

मूल्यों के प्रति चेतना उत्पन्न कर आतंकवाद, सांप्रदायिकता व संकीर्ण मनोवृत्ति को नष्ट कर सकता है।

चूँकि अध्यापक शैक्षिक व्यवस्था की धुरी है, अतः अध्यापकों को विमर्शी अध्यापकों के रूप में परिवर्तित करने की महती आवश्यकता है। अध्यापक देश की संस्कृति का प्रतिनिधि होता है। वह देश की संस्कृति का निर्माता है और उसके सांस्कृतिक गौरव को अक्षुण्ण बनाने में महत्व निभाता है। पूर्व सेवाकालीन व अंतःसेवा प्रशिक्षण कार्यक्रमों में अध्यापक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार निर्मित होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति और समाज के संबंध और सामाजिक सरोकारों के प्रति व्यक्ति की प्रतिबद्धता के विकास के विविध अवसर हों।

एकात्म मानववाद के सिद्धांत शैक्षिक परिदृश्य में अत्यंत प्रासंगिक है। एकात्म मानववाद का दर्शन मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास को सर्वोपरि मानता है और वस्तुतः आज के दौर में मानव विकास का मुद्दा ही अत्यंत जटिल हो गया है।

महात्मा गाँधी ने कहा था- 'शिक्षा के संपूर्ण कार्य को एक ही शब्द में प्रकट किया जा सकता है और शब्द है नैतिकता।' 1985 में प्रस्तुत किए गए नई शिक्षा नीति दस्तावेज में कहा गया- ''21वीं सदी की पीढ़ी के लिए हमें एक ऐसी शिक्षा नीति का निर्माण करना है जो गतिशील, जीवंत और एक सूत्रबद्ध राष्ट्र का निर्माण कर सके।''

एकात्म मानववाद में निहित संदेश वर्तमान समय में तनावग्रस्त, प्रतिस्पर्धायुक्त, भौतिकवादी और जटिल जीवन की विसंगतियों से उबरने का उपाय प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा में नवाचार की जिस संकल्पना को प्रस्तुत करने का प्रयास विभिन्न शैक्षिक शोधों, संगोष्ठियों और परिचर्चाओं में होता है, एकात्म मानववाद के दर्शन का सार वस्तुतः उसी में अग्रसर है।

*****

एकात्म मानववाद का तात्विक विश्लेषण

गंगा देवी लवानियां[1]

आज भिन्न-भिन्न मार्गों से लोग देश को आगे ले जाना चाहते हैं तथा प्रत्येक का विश्वास है कि उसी का मार्ग सही मार्ग है। अतः हमको इन मार्गों का विश्लेषण करना होगा और तब ही हम प्रत्येक की वास्तविकता को भी समझ सकेंगे।

चार प्रमुख मार्ग -

1. अर्थवादी - प्रथम वर्ग अर्थवादी, यह संपत्ति को ही सर्वस्व समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण के दोषों को सब प्रकार की दुरावस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही अपना एकमेव कर्तव्य समझता है। इनके अनुसार भारत की राजनीति का निर्धारण अर्थनीति के आधार पर होना चाहिए।

2. राजनीतिवादी - यह जीवन का सम्पूर्ण महत्व राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में ही समझता है तथा राजनैतिक दृष्टि से ही संस्कृति, मजहब तथा अर्थनीति की व्याख्या करता है।

3. मतवादी - तीसरा वर्ग मजहब परस्त या मतवादी है। इसे धर्मनिष्ठ कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि धर्म मजहब या मत से बड़ा तथा विशाल है। यह वर्ग अपने-अपने मजहब के सिद्धान्तों के अनुसार ही देश का राजनीति अथवा अर्थनीति को चलाना चाहता है, इस प्रकार का वर्ग मुल्ला-मौलवियों अथवा रूढ़िवादी कट्टरपंथियों के रूप में विद्यमान है।

4. संस्कृतिवादी - चौथा वर्ग संस्कृतिवादी है। इसका विश्वास है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। अतः अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विकास ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यदि हमने पश्चिम की भोगवादी संस्कृति को अपना लिया तो हम निश्चित ही समाप्त हो जायेंगे- यह वर्ग भारत में बहुत बड़ा है।

मार्गों की प्राचीनता -

दीनदयाल जी के अनुसार उपर्युक्त चार वर्गों की विवेचना में यद्यपि हमने आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु प्राचीन काल में भी ये चार प्रवृत्तियाँ उपस्थित थीं। इसमें से एक प्रवृत्ति को ही अपना कर हमने अपने जीवन के आदर्श का मानदण्ड बनाया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ही चार प्रवृत्तियाँ है। धर्म संस्कृति का,

1. टी.जी.टी. संस्कृत, सर्वोदय कन्या विद्यालय, सागरपुर (नई दिल्ली)

अर्थ भौतिक वैभव का, काम राजनीति आकांक्षाओं का तथा मोक्ष पारलौकिक उन्नति का द्योतक था। हमने धर्म को ही जीवन का आधार बनाया है, क्योंकि उनके द्वारा ही हमने शेष सबको सधते देखा है; इसलिए जब महाभारत काल में धर्म की अवहेलना होनी प्रारम्भ हुई, तब महर्षि व्यास ने कहा-

उर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च सः धर्मः किं न सेव्यते।। महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व 5/49

अर्थ और काम की ही नहीं मोक्ष की भी प्राप्ति धर्म से होती है, इसीलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि सः धर्मः।'' जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो, वही धर्म है। यह धर्म निश्चित अंग्रेजी का रिलीजन नहीं है। रिलीजन के लिए तो हमने मत शब्द का प्रयोग किया है जो प्रत्येक के लिए भिन्न होता था, तथा मोक्ष-निर्वाण अथवा परमानंद प्राप्ति का साधन होता था, जबकि धर्म के द्वारा सम्पूर्ण समाज की धारणा तथा उसके अंगों का पालन होता था। इसलिए धर्म की व्याख्या की गई है-

'धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।'

आर्थिक दृष्टिकोण वाले लोग यद्यपि आर्थिक समानता के पक्षपाती हैं, किन्तु वे व्यक्ति की राजनीतिक एवं आत्मिक सत्ता को पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। राजनीतिवादी प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देकर उसके राजनैतिक व्यक्तित्व की रक्षा तो अवश्य करते हैं किन्तु आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टि से वे भी अधिक विचार नहीं करते। अर्थवादी यदि जीवन को भोग प्रधान बनाते हैं तो राजनीतिवादी उसको अधिकार प्रधान बना देते हैं, मतवादी बहुत कुछ अव्यावहारिक, गतिहीन और संकुचित हो जाते हैं। इन सबके विपरीत संस्कृति प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के मौलिक तत्त्वों पर तो जोर दिया जाता है, पर शेष बाह्य बातों के सम्बन्ध में प्रत्येक को स्वतंत्र रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है।

यदि भारत की आत्मा को समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थनीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को भी हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्तव्य प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थनीति की नहीं। उसमें तो शायद हमको उनसे ही उल्टे कुछ सीखना पड़े। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के सीने पर त्याग, अधिकार के सीने पर कर्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के सीने पर विशाल एकात्मवाद प्रकट किया है।

यदि हम अपने मध्ययुग का इतिहास देखें तो हमारा वास्तविक युद्ध अपनी संस्कृति के रक्षार्थ ही हुआ है। उसका राजनीतिक स्वरूप यदि कभी प्रकट भी हुआ तो उस संस्कृति की रक्षा के निमित्त ही। राणा प्रताप तथा राजपूतों का युद्ध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नहीं था किन्तु धार्मिक स्वतंत्रता के लिए ही था। छत्रपति शिवाजी ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक के लिए ही की। तात्पर्य यह है कि राजनीति को हमने जीवन में केवल सुख का कारण मात्र माना है, जबकि संस्कृति सम्पूर्ण जीवन ही है।

आज भारत में एक संस्कृतिवाद, द्विसंस्कृतिवाद तथा बहु-संस्कृतिवाद के नाम से तीन वर्ग दिखाई देते हैं। एक संस्कृतिवादी भारत में विकसित एक ही भारतीय संस्कृति का अस्तित्व मानते हैं तथा अन्य संस्कृतियों के लिए जो विदेशों से भारत में आई है, आवश्यक समझते हैं कि वह भारतीय संस्कृति में विलीन हो जायें।

एक वर्ग भारत में स्पष्टतया दो संस्कृतियों का अस्तित्व मानता है तथा उनको बनाये रखने की माँग करता है। मुस्लिम लोग इसी मत के हैं।

बहु संस्कृतिवादी वे लोग हैं जो प्रान्त की निजी संस्कृति मानते हैं तथा उस प्रान्त को उस आधार पर आत्मनिर्णय का अधिकार देकर बहुत कुछ अंशों में स्वतंत्र ही मान लेते हैं। साम्यवादी एवं भाषानुसार प्रान्तवादी लोग इस वर्ग के हैं। वे भारत में सभी प्रान्तों में भारतीय संस्कृति की अखण्ड धारा का दर्शन नहीं कर पाते।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के वर्गों का प्रमुख कारण यह है कि उनके सम्मुख संस्कृति प्रधान जीवन न होकर मजहब, राजनीति अथवा अर्थनीति प्रधान जीवन ही है।

केवल एक संस्कृतिवादी लोग ही ऐसे हैं जिनके समक्ष अन्य और कोई ध्येय नहीं है संस्कृति ही भारत की आत्मा होने के कारण वे भारतीयता की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। शेष सब तो पश्चिम का अनुकरण करके या तो पूँजीवाद अथवा रूस की तरह आर्थिक प्रजातंत्र तथा राजनैतिक पूँजीवाद का निर्माण करना चाहते हैं। अतः उनमें सब प्रकार की सद्भावना, होते हुए भी इस बात की संभावना कम नहीं है कि उनके द्वारा भारतीय आत्मा या भारतीयता का विनाश हो, अतः आज की प्रमुख आवश्यकता तो यह है कि एक संस्कृतिवादियों के साथ पूर्ण सहयोग किया जाय, तभी हम गौरव और वैभव से खड़े हो सकेंगे तथा राष्ट्र-विघटन जैसी भावी दुर्घटनाओं को रोक सकेंगे।

भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल-

भारतीय राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे भारत के भिन्न-भिन्न वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। उनके इस अस्तित्व को स्वीकार करके फिर वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि यह अस्तित्व किस प्रकार राष्ट्र के हितार्थ काम में आये। आज तक उनका सम्पूर्ण प्रयत्न इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वतंत्र मानी हुई इकाइयों के बीच एकता और सामंजस्य स्थापित करने का ही रहा है। उनमें महत्तम समापवर्तक ढूँढने का उन्होंने प्रयास किया है, किन्तु संस्थाएँ इतनी रूढ़ होती जाती हैं कि उनका समापवर्तक ही नहीं मिल पाता। किसी भी वर्ग के अस्तित्व को, जो कि वास्तविक नहीं है, संकट न पहुँचाते हुए, बल्कि उनका संवर्द्धन ही करते हुए आज तक राजनीतिक प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया गया है और उसका परिणाम सदा ही असफलता के रूप में आया है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः।

हमारे पुराणकारों ने भारतवर्ष की व्याख्या की तो वह केवल भूमिपरक ही नहीं अपितु जनपरक और संस्कृतिपरक भी थी। हमने भूमि जन और संस्कृति को एक दूसरे से भिन्न नहीं किया अपितु उनकी एकात्मकता

की अनुभूति के द्वारा राष्ट्र का साक्षात्कार किया। राष्ट्रीय और एकात्मक संस्कृति की जो आधारभूत मान्यताएँ स्वीकार की गयी है, उन सबका समावेश 'अखण्ड भारत' शब्द के अंतर्गत हो जाता है।

इसके लिए भागीरथ के प्रयत्नों की निष्ठा एवं ''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' की मान्यता लेकर हमने संस्कृति और राष्ट्र की एकता का जो अनुभव किया है वह हजारों वर्षों की असफलता से अधिक है। अतः हमें हिम्मत हारने की जरूरत नहीं यदि पिछले सिपाही थक गये हैं तो नये आगे आयेंगे तो पिछलों को अपनी थकान को हिम्मत से मान लेना चाहिए, अपने अस्त्रों की कमजोरी स्वीकार कर लेना चाहिए, लड़ाई जीतेंगे ही नहीं यह कहना ठीक नहीं यह तो हमारे आन बान और शान के खिलाफ है, राष्ट्र की प्रकृति और परम्परा के भी प्रतिकूल है।

हमारे साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीयता की एकात्मता को वाणी का परिधान पहनाकर जन समाज के सम्मुख उपस्थित किया है। रामायण और महाभारत हमारे राष्ट्र के साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति बन गये। भगवान राम और कृष्ण का चरित्र आदर्श के रूप में राष्ट्र के सामने उपस्थित हुआ। साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है जिसमें समाज की मनोभावनाओं का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। मनु ने कहा-

एतेद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्र शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

इस गुरु स्थान के योग्य चरित्र की महत्ता प्राप्त करने के निमित्त जब अपने नियमों की रचना की तो सम्पूर्ण देश के अपने मन में महत्वाकांक्षा लेकर उन नियमों का एक सा पालन किया। भारत की सम्पूर्ण जनता ने अपने आचार विचारों को स्मृतिकारों के मापदण्ड से नापा तथा एकता के ढाँचे में ढालने वाले इन संस्कारों को अपने जीवन में स्थान दिया। परिणामतः सम्पूर्ण भारत में एकात्मक रीति-नीति, नियम-उपनियम और व्यवहार की सृष्टि हुई। इन्हीं नीतिकारों ने हमारी ग्राम पंचायतों को जन्म दिया। जिनका स्वरूप सम्पूर्ण भारत में एक था तथा जिन्होंने ऊपर के शासक में परिवर्तन होते हुए भी भारतीय आत्मा की स्वतंत्रता और एकात्मकता को बनाये रखा।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र की आत्मा का सर्वांगीण विकास हुआ तथा वह अत्यन्त बलवती बनी। भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ सम्पूर्ण हिन्दू समाज समान विचारधारा एवं समान कर्तृत्व से समन्वित होकर, जीवन की एकरसता से परिपूर्ण होकर, एक संस्कृति के आधार पर अखण्ड राष्ट्रीयता के पक्के रंग में रंग गया।

जिस प्रकार प्राणों का स्पन्दन ही जीवन नहीं, वैसे ही स्वराज्य ही सम्पूर्ण राष्ट्र का पूर्ण रूप नहीं है। सामान्य जीव से विकास की सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते प्राणी का निश्चित ध्येय केन्द्रित क्रिया कलाप साधन बन जाता है। उसी प्रकार स्वराज्य का भी एक ध्येय होना चाहिए तभी 'ध्येय ही जीवन है' यह वाक्य चरितार्थ होता है।

भारत की भी अपनी एक प्रकृति है। उसकी भी एक आत्मा है, उनके साक्षात्कार का प्रयत्न हमारा

साध्य होना चाहिए। इसी के द्वारा हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकेंगे, अपने देश की समृद्धि तथा जन के सुख और हित की व्यवस्था कर सकेंगे। इस ध्येय के सहारे ही हम राष्ट्र के जन-जन में प्रबल पुरुषार्थ त्याग, तपस्या के भाव पैदा कर सकेंगे। इस स्थिति में उन्हें कर्म की प्रेरणा मिलेगी तथा उस कर्म की आराधना में उनके जीवन का विकास होगा। इसी से उनकी आत्मा को सुख मिलेगा।

भारत ने अपने लिए जनतंत्रीय शासन व्यवस्था चुनी है। जनतंत्र में शक्ति और संगठन धर्मराज्य, लोकतंत्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इस सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों से हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। हम इसे किसी भी नाम से पुकारे हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नया वाद, किन्तु यही एकमेव मार्गों भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह का संचार कर सकेगा।

यही एक ऐसा जीवनदर्शन है जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ों में नहीं बाँटता अपितु सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर उसका विचार करता है। साथ ही यह समझना भी भारी भूल होगी कि हिन्दुत्व वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति का विरोधी है। विज्ञान और यन्त्र इन दोनों का उपयोग इस पद्धति के अनुरूप हों।

भारतीय संस्कृति में कर्म यानि श्रम को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों तथा गीता तक में कर्म की महत्ता सर्वोपरि मिलती है। श्रम करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करने का अवसर देना शासन का भी कर्तव्य है।

समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। दोनों की आधुनिक विज्ञान एवं यान्त्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है। दोनों ही इन वर्तमान आविष्कारों के शिकार हो गये हैं। परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों का निर्धारण, मानव कल्याण और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया जा रहा है बल्कि उसका निर्धारण यन्त्रों के अनुसार करना पड़ रहा है। उत्पादन की केन्द्रित व्यवस्था में, फिर उसका नियंत्रण चाहे व्यक्ति द्वारा हो अथवा राज्य द्वारा, मानव के स्वतंत्र अस्तित्व का लोप हो जाता है। यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी है तो हमें उसे मशीन की गुलामी से मुक्त करना होगा।

भारत में भी पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। वास्तव में यह विश्व के वैचारिक संघर्ष की प्रतिच्छाया मात्र है, उसका अस्तित्व हमारे यहाँ है नहीं। हमारा कहना है कि निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के संघर्षों की चर्चा उठाना निरर्थक और निराधार है। हमें ऊपर उठकर समस्याओं की ओर देखना चाहिए।

यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो दिखाई पड़ेगा कि दोनों के दोषों का मूल कारण एक है, उसकी जड़ें अलग-अलग नहीं हैं। अतः हम यह खोजें कि बुराई कहाँ है? बुराई का वास्तविक कारण व्यवस्था नहीं मनुष्य है। मनुष्य ही प्रथम आता है। बुरा व्यक्ति अच्छी से अच्छी व्यवस्था में भी घुसकर बुराई फैला देगा। समाज की प्रत्येक परम्परा और और व्यवस्था किसी न किसी अच्छे व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ की गई है, परन्तु उसी अच्छी

परम्परा पर जब बुरा व्यक्ति आ बैठा है तो वहाँ बुराई आ गई है। राज्य संस्था को ही लें क्या रामचन्द्र जी राजा नहीं थे? जहाँ उन्होंने अपने श्रेष्ठ जीवन से राज्य संस्था के गौरव में वृद्धि की वहाँ अनेकों ने दोषों से उसी को इतना अपवित्र कर दिया कि कई बार राज्य संस्था का नाम लेने से चिढ़ उत्पन्न होती है। इसी दृष्टि से निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के संघर्ष की ओर देखें इसकी क्या गारन्टी है कि यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतंत्र रहकर बुराई करता है तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति बैठा देने पर बुराई न फैलेगी? अतः हमारा ध्यान व्यक्ति की कर्तव्य-भावना को जगाने पर केन्द्रित होना चाहिए था।

परन्तु हुआ क्या? व्यक्ति की ओर दुर्लक्ष्य और वाहन व्यवस्था पर जोर दिया गया। निर्जीव व्यवस्था के सामने चेतन मनुष्य नगण्य माना गया। व्यक्ति के अन्दर विद्यमान सद्‌गुणों के विकास करने के स्थान पर उसका ह्रास करने वाले उपायों का ही अवलम्बन किया गया। राष्ट्र निर्माण की योजनाएँ बनाने वालों ने इस तथ्य को भुला दिया कि प्रयास करने पर मनुष्य मानव से देवता बन सकता है। उन्होंने मानव का गर्हित स्वरूप ही सामने लाकर रखा। वे पूँजीवाद के आधार में 'एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करके चलते हैं कि जो विशुद्ध ''आर्थिक मनुष्य'' है। यह केवल एक कल्पना है। ऐसाकोई व्यक्ति न पैदा हुआ है न होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मनुष्य का चाहे वह पूँजीपति हो या मजदूर, प्रत्येक कार्य अर्थ की दृष्टि से होता हो। वह 'अर्थ' का विचार भले ही करता होगा पर उसके कार्य का प्रेरक अर्थ ही नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र के नियमों की कसौटी पर यदि मानवीय व्यवहार को कसा जाये तो आपको कहीं भी आर्थिक मनुष्य के दर्शन नहीं होंगे बल्कि उससे कहीं विशाल सम्पूर्ण मानव का अस्तित्व दिखाई देगा। पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य माना गया तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद ने सामूहिक मनुष्य की कल्पना की मनुष्य को एक प्रकार मान लिया। उस सामूहिक मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का लक्ष्य सामने रखा। उसकी जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी गयी। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्यता का विचार नहीं है।

मनुष्यता की व्याख्या कठिन है। अनेक बातें सामने होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ विशिष्टता है। उसकी विविधताओं का विचार आवश्यक है। भारतीय संस्कृति ने एक विचार किया कि मनुष्य विविधताओं का स्वाभाविक विकास करते हुए भी आन्तरिक एकात्मकता की अनुभूति करता चले। व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वप्रथम है। जब टाटा-बिरला, व्यक्ति स्वातन्त्रय या मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है, उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता का विचार करना है। शक्ति चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, केन्द्रीकरण से व्यक्ति स्वातन्त्रय समाप्त हो जाता है। पूँजीवाद और समाजवाद दोनों केन्द्रीकरण के हामी हैं। पूँजीवाद में धीरे-धीरे मुक्त प्रतियोगिता समाप्त होकर आर्थिक शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। अमेरिका आदि पूँजीवादी देशों में जो बड़े-बड़े औद्योगिक साम्राज्य बसे हुए हैं, उनकी क्या स्थिति है? आज जितने अमेरिका में Antitrust laws बनाने पड़े हैं, उतने कहीं भी नहीं हैं। वहाँ व्यवहार व्यक्तियों के साथ नहीं, फाइलों के साथ होता है। आर्थिक शक्ति को राज्य के हाथों में सौंपने वाले समाजवाद में भी ऐसा

ही होता है। राज्य की नौकरशाही भी यही करती है। परिणाम हो रहा है कि जीवन यन्त्रवत होता जा रहा है। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार होता है तो परिमाणात्मक आधार पर न कि गुणात्मक आधार पर।

जब तक एक-एक व्यक्ति की विशिष्टता-विविधता को ध्यान में रखकर उसके विकास की चिन्ता नहीं करेंगे तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं होगी। समाजवाद और पूँजीवाद ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का पुर्जा मात्र बना डाला। एक स्वतन्त्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडीमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया। मनुष्य यानि एक जन्तु जो 8 घंटे यन्त्रवत मजदूरी करे और 16 घण्टे खाए। हाड़ माँस के मनुष्य जिसके पास हृदय मस्तिष्क और शरीर तीनों की भूख है, का ही विचार करना होगा अन्यथा कार्य के 8 घंटों का जो अमानवीय प्रभाव होता है, उसे समाप्त करने में ही उसके शेष 16 घण्टे व्यतीत हो जाते हैं, उनके समाप्त होते ही वह पुनः 8 घण्टों के चक्र में फंस जाता है।

मानव जीवन के समस्त पहलुओं का विचार कर आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन वितरण और उपभोग के साधन तथा व्यवस्था बनायें फिर उसके लिए विज्ञान का उपयोग करें। यह आवश्यक नहीं कि हम विज्ञान के पुराने प्रयोगों को ज्यों का त्यों अपना लें। आज हम पश्चिम की टेक्नोलॉजी की आँख मूँदकर नकल कर रहे हैं। इसे बन्द करना होगा और टेक्नॉलोजी का प्रयोग मानवता के विकास के लिए करना होगा।

इसके लिए विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था चाहिए। स्वयंसेवी क्षेत्र को खड़ा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बड़ा होगा, उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशः आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है। यह विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था भारत ही संसार को दे सकता है। हम नये सिरे से आर्थिक निर्माण कार्य शुरू कर रहे हैं। अतः हमें यह विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था खड़ी करने में सुविधा हो सकती है जबकि दुनिया शायद यह बात आसानी से न कर पाये। यदि एक बार भारी कारखाने का निर्माण हो गया तो उसे समाप्त करने की सोचने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती हैं। उसके लिए बड़ा साहस बटोरना पड़ता है।

संदर्भ पुस्तकें -

एकात्म मानववाद - सुरुचि प्रकाशन

राष्ट्र चिन्तन - लोकहित प्रकाशन

यह विषय बार-बार आता है कि हमारी पहचान क्या है? वास्तव में हमारे भटकाव का जो मुख्य कारण है वह यही है कि हमें हमारी पहचान का तथा यहाँ रहने वाले समाज की पहचान का सही बोध नहीं हो पा रहा है। भारत की पहचान संसार के समक्ष ठीक करना, यह हमारी सांस्कृतिक स्वतंत्रता का प्रथम लक्ष्य है। मुझे स्मरण है जब भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी तब महर्षि अरविन्द ने कहा था, 'हमें आज केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, इस स्वतंत्रता के लिए हमें एक मंत्र प्राप्त हुआ था 'वन्देमातरम्', जिसने असंख्य बलिदान की प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की, किन्तु हम सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी स्वाधीन नहीं हैं और इसके लिए हमें राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए किए गए आन्दोलन से भी कहीं बड़ा आन्दोलन करना पड़ेगा।'

- श्रद्धेय अशोक सिंहल

2230-7001

Price : 150/-